ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क ४१

रेडियो-नाट्य-शिल्प

श्री सिद्धनाथकुमार एम० ए०

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री-भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५५ ई०
मूल्य ढाई रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

डा० विश्वनाथप्रसाद

एम० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन)

को

सादर

अभिनेता एक नाटक प्रसारित करते हुए
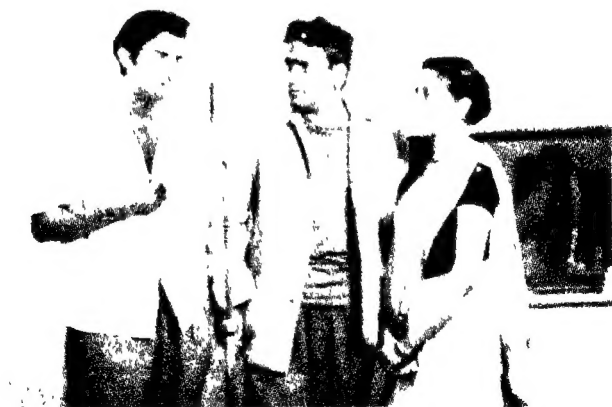
अपनी पार्टीके दो सदस्योंके साथ अभिनेता पृथ्वीराज कपूर
एक नाटक प्रसारित कर रहे हैं। पीछे प्रस्तुतकर्त्ताका
छोटा कमरा दिखाई पड़ रहा है।

विषय-सूची

परिशिष्ट

अपनी बात

सन् १९४८ की बात है। पटनामें नया-नया रेडियो-स्टेशन खुला था। अभिव्यक्तिके इस नये माध्यमकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। रेडियो-सैट पर अपनी रचना और नाम सुननेकी मनमे तीव्र आकांक्षा जगी। सोचा, नाटक लिखूं, लेकिन सहसा समझ न सका कि रेडियो-नाटक लिखने का ढंग क्या है। हिन्दीमें कोई पुस्तक न थी, जिससे इस दिशामें सहायता मिलती, और अपने यहांके अन्य लेखकोंके लिए भी यह माध्यम नया ही था। फलतः मुझे इस विषय पर लिखित अंग्रेजी पुस्तकोंकी शरण लेनी पड़ी। मैं समझता हूँ, इतने दिनों बाद भी स्थितिमें परिवर्त्तन नहीं हुआ है। अभी भी हिन्दीमें कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जो रेडियो-नाटक लिखने के आकांक्षी व्यक्तियोंको उचित मार्ग बतला सके। अनेक लेखकोंसे बात-चीतके प्रसंगमें भी मैंने यह अनुभव किया है कि वे रेडियो-नाटक लिखना चाहते हैं, पर पथ-प्रदर्शनके अभावमें नहीं लिख पाते। यदि हिन्दीमें इस विषय पर कोई पुस्तक होती, तो उन्हें पर्याप्त सहायता मिलती। यह पुस्तक इसी दृष्टिसे लिखी गयी है।

पुस्तकको सब प्रकारसे उपयोगी एवं व्यावहारिक बनानेका प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजीमे इस विषयपर जो उपलब्ध सामग्री है, उसका पूरा उपयोग किया गया है। ऐसा करना उचित भी था, क्योंकि अंग्रेजीमें रेडियो-नाटककी टेकनीकका काफ़ी विकास हो चुका है। पुस्तकको व्यावहारिक बनानेके लिए मैंने लगभग आठ वर्षोंके अपने रेडियो-नाटक-लेखन के अनुभवका भी उपयोग किया है।

तथ्योंको स्पष्ट करनेके लिए पुस्तकमें पर्याप्त उदाहरण दिये गये हैं। कुछ उदाहरणोंको एकसे अधिक बार देनेकी आवश्यकता पड़ी है, पर पुनरुक्तिसे बचनेके लिए ऐसा नहीं किया गया है, केवल आगे आनेवाले

उदाहरणोंका निर्देश कर दिया गया है। अतः पाठकोंकी सुविधाके लिए यह उल्लेख कर देना उचित ज्ञात होता है कि पृष्ठ ३० में निर्दिष्ट उदाहरण पृष्ठ १०९ में और पृष्ठ ३१ में निर्दिष्ट तीन उदाहरण क्रमशः पृष्ठ ८९-९१, ५२ और ९५-९६ में दिये गये हैं। इसी प्रकार ३२, ३८, ४१, ५२, ५४ और ५७ पृष्ठोंमें निर्दिष्ट उदाहरण क्रमशः पृष्ठ ४६, ७७, १०४, ७८, ७८ और ११४-११५ में देखे जा सकते हैं। उदाहरण लेखकने अपनी ही रचनाओंसे दिये हैं, जहाँ अन्य किसी लेखककी रचनासे उदाहरण दिया गया है, वहाँ उसका उल्लेख कर दिया गया है।

पाठक रेडियो-नाटकके स्वरूप-विधान एवं प्रकारोंसे भलीभाँति परिचित हो सकें, यह सोचकर मैंने परिशिष्टमें अपने दो रेडियो-नाटक, 'संघर्ष' और 'वे अभी भी क्वाँरी हैं', अपने संपूर्ण रूपमें दे दिये हैं। मैं यह कहनेकी धृष्टता नहीं करता कि ये नाटक आदर्श हैं, पर इतना अवश्य है कि ये केवल रेडियोको दृष्टिमें रखकर लिखे गये हैं, और रेडियो पर सफल रहे हैं। यों तो रेडियो-नाटकका कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है (उसी तरह, जिस तरह कहानी और उपन्यासका कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है) वह प्रत्येक लेखककी प्रतिभा और सूझके अनुसार बदलता रहता है, मुझे आशा है कि परिशिष्टके नाटकोंसे पाठकोंको रेडियो-नाटकका स्वरूप-विधान समझनेमें सहायता मिलेगी।

नाटक एक सृजनात्मक कृति है, और प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार ही उसकी रचना कर सकता है। कोई पुस्तक वह प्रतिभा नहीं दे सकती। पर सृजनात्मक प्रतिभाके रहते हुए भी साहित्यके कहानी, उपन्यास, नाटक आदिके कला-विधानसे परिचित होना आवश्यक है, तभी सफल कला-कृतियोंका निर्माण हो सकेगा। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं व्यक्तियोंके लिए है, जिनमें नाटकके लिए अपेक्षित प्रतिभा पहलेसे है, और जो रेडियो-नाटकके कला-विधानसे परिचित होना चाहते हैं।

आशा है, रेडियो-नाटक लिखनेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्ति तो इस

पुस्तकसे लाभ उठाएँगे ही, हिन्दीके सामान्य पाठकोंमें भी इससे रेडियो-नाटकोंके प्रति अभिरुचि जगेगी।

जिन पुस्तकोंसे मैंने सहायता ली है और जिनके उद्धरण मैंने पुस्तकमें दिये हैं, उनके लेखकोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

आल इंडिया-रेडियोके सौजन्यसे स्टूडियोके जो चित्र प्राप्त हुए हैं, उनके लिए अधिकारियोंको धन्यवाद।

लोकोदय ग्रंथमालाके संपादक आदरणीय बन्धु श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का बहुत आभार मानता हूँ कि इनसे प्रकाशक-जैसा नहीं, एक अग्रज-जैसा स्नेह एवं परामर्श पाता रहा हूँ।

मैंने यह उचित समझा कि प्रस्तुत पुस्तकको प्रस्तावना किसी रेडियो-नाट्य-विशेषज्ञसे ही लिखवायी जाय। इस संबंधमें मेरे सामने पहला नाम आल इंडिया रेडियो दिल्लीके प्रसिद्ध नाट्य-निर्देशक श्री एस० एस० एस० ठाकुर (जिन्होंने अब तक विभिन्न प्रकारके सैकड़ों रेडियो-नाटक पढ़े हैं और प्रोड्यूस किये हैं, जिन्हें रेडियो-नाट्यका सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक अनुभव प्राप्त है) का आया, पर मेरे लिए वे बिलकुल अपरिचित थे। अतः मैंने उनके पास लिखा—"मैं सोचता हूँ कि प्रसिद्ध रेडियो-नाट्य-विशेषज्ञोंके अनुभवों पर आधारित यह पुस्तक रेडियो-नाट्य-शिल्पसे परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा रखने-वालोंके लिए उपयोगी होनी चाहिए, पर मैं चाहता हूँ कि आप इसे स्वयं देख लें कि जिस उद्देश्यसे यह लिखी गयी है, उसकी पूर्ति कहाँतक करेगी; और यदि आप इससे संतुष्ट हों, तभी प्रस्तावना लिखें।" मुझे प्रसन्नता है कि ठाकुर साहबने प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया और अपने व्यस्त जीवनसे कुछ समय निकाल कर प्रस्तावना लिखनेकी जो कृपा की है, इसके लिए हृदयसे उनका हार्दिक आभार स्वीकार करता हूँ।

पटना } —सिद्धनाथकुमार

प्रस्तावना

मुझसे जब इस पुस्तककी प्रस्तावना लिखनेको कहा गया, तो मुझे "लिखना" शब्दसे बडी घबराहट हुई, क्योंकि मैंने लिखनेका काम बहुत कम किया है। मैं तो बोलता हूँ और उससे भी अधिक सुनता हूँ। यह अत्युक्ति न होगी, यदि मैं कहूँ कि रेडियो-नाटकसे संबन्धित हर चीजमें बोलने और सुननेकी एक अलग महत्ता है।

वैसे बोलना और सुनना तो किसको नहीं आता, पर मैंने रेडियोमें रहकर यही सीखा है कि ऐसा बोलो, जिसे बहुत-से लोग समझें, जिससे बहुत से लोगोंका फ़ायदा हो और बहुत-से लोगोंका मनोरंजन। सरल, सर्वहित की सरस बात होनी चाहिये।

रेडियोका आविष्कार मौलिक शब्दकी शक्ति-प्रदर्शनका एक बहुत बड़ा माध्यम है ..तो हमें मुखसे बोली हुई बातकी ओर हाथसे लिखी हुई बातकी अपेक्षा अधिक ध्यान देना होगा। शायद ही ऐसा कोई रेडियो-नाटक होगा, जिसकी शैली पर उपर्युक्त कथनको सामने रखकर विचार किया गया हो।

मुखसे बोली हुई बात ही क्या, अमौखिक, संगीतमय, अथवा संगीत-रहित ध्वनियाँ एक बहुत अच्छे लिखे हुए कथोपकथनसे अधिक प्रभावशाली हो सकती है।

एक विराम अपने सही स्थान पर, एक पूरे पैराग्राफ़से अधिक सार्थक हो सकता है।

डी० सी० पी० (ड्रामा कन्ट्रोल पैनल) में यह क्षमता है कि वह स्वयं ध्वनिके सहारे एक ऐसा चित्र, दृश्य और भाव पैदा कर सकता है, जो एक पूरे पृष्ठ पर लिखे हुए शब्दोंसे कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होगा।

रेडियो-नाट्य-शिल्प तभी निखरेगा, जब हम रेडियोके असली तत्त्व को ग्रहण कर डी० सी० पी०, अभिनेता, संगीतमय और संगीतरहित ध्वनियाँ, यथास्थान विरामकी सार्थकता आदि अंगोंको सामने रखकर रेडियो-नाटककी कल्पना करेंगे।

श्री सिद्धनाथकुमारजीका यह प्रयास वास्तवमें सराहनीय है। उन्होंने रेडियो-नाट्य-शिल्पकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बातका अच्छा विवेचन किया है।

आशा है, वह आगे भी इस क्षेत्रकी अनेकानेक और बातें भी जनता तक पहुँचाते रहेंगे।

नई दिल्ली]

—एस० एस० एस० ठाकुर
निर्देशक, आकाशवाणी, दिल्ली

रेडियो—नाट्य-शिल्प

ध्वनि-नाटक या रेडियो-नाटक ?

रेडियो-नाटकका माध्यम हमारे लिए अभी नया है, इसके लिए कोई ऐसा नाम भी निश्चित नही हो सका है, जो उचित एवं सर्वमान्य हो। रेडियो-नाटकके कला-विधानपर प्रकाश डालनेके पहले नामकरणके प्रश्नपर विचार कर लेना आवश्यक लगता है। भिन्न-भिन्न विद्वानोंने इसे भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। डा० रामकुमार वर्माने इसे 'ध्वनि-नाटक' कहा है ('आजकल', अगस्त १९५१)। प्रो० रामचरण महेन्द्र इसे 'ध्वनि-एकांकी' कहते है ('कल्पना', दिसम्बर १९५२)। अधिक लोगोंने इन्ही दोनों नामोके व्यवहार किये है, यो कुछ लोग इसे रेडियो-नाटक भी कहते है। हमें एक-एक करके इन तीनो नामोपर विचार कर लेना चाहिए।

'ध्वनि-नाटक'मे प्रयुक्त 'ध्वनि' शब्द अनेकार्थ है। 'संक्षिप्त हिंदी-शब्दसागर'मे इसके चार अर्थ दिये हुए है, जो इस प्रकार है—'१. वह विषय, जिसका ग्रहण श्रवणेन्द्रियसे हो। शब्द। नाद। आवाज़। २. शब्दका स्फोट। आवाज़की गूंज। लय। ३. वह काव्य जिसमे वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक विशेषतावाला हो। ४. आशय। गूढ़ अर्थ। मतलब।' इसलिए 'ध्वनि-नाटक'से रेडियोसे प्रसारित होनेवाले नाटकका बोध नहीं होता। यह सत्य है कि रेडियोसे प्रसारित किये जानेवाले नाटकोंमें शब्द, आवाज़ अथवा ध्वनिकी ही प्रधानता होती है, पर रेडियो-नाटकके सभी उपकरण इसके अन्तर्गत नही आ पाते। संगीत, जो रेडियो-नाटकका एक प्रधान साधन है, की व्यंजना 'ध्वनि'से नहीं होती। सच कहा जाय, तो ध्वनि या आवाज़ (Sound-effect) रेडियो-नाटकका केवल एक उपकरण है। अतः रेडियोसे प्रसारित होनेवाले नाटकको 'ध्वनि-नाटक' कहना उचित नहीं जँचता।

'ध्वनि-एकांकी' नाम तो रेडियो-नाटकोंके ही संबंधमें भ्रम उत्पन्न कर देता है। यह भ्रम बहुत लोगोंमें है। लोग समझते हैं कि रेडियोसे

प्रसारित किये जानेवाले नाटक एकांकी नाटकोकी ही श्रेणीके होते है। स्वयं डा० रामकुमार वर्माकी इस पंक्तिसे यही ध्वनि निकलती है—'रंग-मंचपर अभिनीत होनेवाले एकांकी नाटकोंमें और रेडियो-द्वारा प्रस्तुत एकांकी नाटकोंमें बड़ा भेद है।' ('आजकल', अगस्त १९५१) पर रेडियो-नाटकोंमें अंकका प्रश्न ही नही उठता। उनमे आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े अनेक दृश्य होते हैं, यों कभी-कभी एक ही दृश्यमे समूचा नाटक समाप्त हो जाता है, जैसे स्वय डा० वर्माका 'आँखोंका आकाश' है। एकांकी नाटक के लिए यह कहना सत्य है कि 'कार्य-संकलन, काल-संकलन और स्थान-संकलनकी मर्यादासे उसमें एक सम्पूर्ण कार्य एक ही अवधिमें एक ही स्थानपर होना आवश्यक है। ....यही एकांकीकारका कौशल है कि बिना समयका विस्तार बढ़ाये और बिना स्थानोको बदले, वह कौतूहलका सचय कर मनोविज्ञानमें क्रान्ति उपस्थित कर दे।' पर रेडियो-नाटकके सबंधमे यह आवश्यक नहीं है। यो, कुछ रेडियो-नाटकोमे सकलन-त्रयकी रक्षा भले ही की गई हो, पर रेडियो-नाटकका यह कोई सामान्य सिद्धान्त नही है। अन्तमे दिये गये नाटक 'वे अभी भी क्वाँरी है' मे सरलतासे देखा जा सकता है कि उसमें संकलन-त्रयका कोई बधन नही माना गया है, फिर भी प्रसारित होनेपर उसमे काफी प्रभावोत्पादकता रही है। तात्पर्य यह कि रेडियोके लिए लिखित नाटकको 'ध्वनि-एकांकी' भी नही कहा जा सकता।

रेडियोसे प्रसारित किये जानेवाले नाटकोंके लिए एक ही नाम उचित है—'रेडियो-नाटक'। 'रेडियो' शब्द हिंदीके लिए अपना शब्द हो चुका है, सबके लिए यह बोधगम्य भी है। इसके अन्तर्गत रेडियोके लिए लिखित सब प्रकारके नाटक आ जाते है। अत. इसी नामका व्यवहार किया जाना चाहिए।

रंगमंच-नाटक और रेडियो-नाटक

रेडियो-नाटक लिखनेके पहले रेडियो-नाटक लिखनेके आकांक्षी लेखकोंके मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ जानी चाहिए कि रेडियो-नाटक रंगमचके नाटकोंसे बिल्कुल भिन्न है, दोनोंके लिखनेकी प्रणाली अलग-अलग है। रेडियो-नाटकके संबंधमें सामान्य धारणा यह है कि वह रंगमंचके नाटकों-का ही एक परिवर्त्तित रूप है। ऐसी धारणा उत्पन्न करनेमें अपने यहाँके प्रसिद्ध लेखकोंका भी हाथ है। वे रंगमंचके लिए लिखे हुए अपने नाटकोंमें थोड़ा परिवर्त्तन कर उन्हें रेडियो-स्टेशनोंमें प्रसारित करनेके लिए दे देते हैं, अथवा रेडियोसे प्रसारित नाटकोंमें स्थान-स्थानपर रंगमंचके उपयुक्त प्रतिन्यास लिखकर उन्हें पत्र-पत्रिकाओंमे प्रकाशित कराते हैं। इससे उन्हें आर्थिक दृष्टिसे लाभ अवश्य होता है, पर रेडियो-नाटकके संबंधमें सामान्य पाठकोंकी धारणा सही नहीं बन पाती। कुछ लेखक भी ऐसे हैं, जो स्वयं इस धारणाके विश्वासी हैं। उदाहरणके लिए, एक प्रसिद्ध नाटककारके नाटक-संग्रहकी भूमिकामें एक पंक्ति इस प्रकार है—'मेरा विश्वास है, जैसे स्टेजके नाटक कुछ हेर-फेरके साथ रेडियोके उपयुक्त बनाये जा सकते हैं, वैसे ही ध्वनि-रूपकोंको भी आवश्यकता होनेपर स्टेज-नाटक बनाया जा सकता है।' यह बात कुछ नाटकोंके लिए भले ही सही हो, पर जो नाटक रेडियोको ही दृष्टिमें रखकर लिखे जाते हैं, उनपर नहीं लागू होगी। अन्तमें दिये गये नाटकोंको, विशेष रूपसे 'वे अभी भी क्वाँरी हैं' को पढ़कर आप सोच सकते हैं कि क्या उन्हें रंगमंचपर प्रदर्शित किया जा सकता है। सच बात यह है कि रेडियो-नाटककी कला एक स्वतन्त्र कला है। उसे जाननेके लिए सबसे पहले हमें समझ लेना चाहिए कि रंगमंचके नाटकोंसे रेडियो-नाटक किन-किन बातोंमें भिन्न है।

रंगमंच-नाटक दृश्य और श्रव्य दोनों है। उसके प्रभावको हम आँख और कान दोनोंके द्वारा ग्रहण करते हैं। दृश्य होनेके कारण उसकी अभि-

व्यक्तिके अनेक साधन हैं। रंगमंच-नाटकोंमें वातावरण एवं परिस्थितियों-को सूचित करनेवाले दृश्योंका उल्लेख करना पड़ता है। रंगमंचपर काममें आनेवाली वस्तुओंका भी निर्देश रहता है। पात्रोंकी रूप-रेखा, अवस्था, शारीरिक गठन, वस्त्र-विन्यास, अस्त्र-शस्त्र, अलंकार आदि द्वारा उनके देश, काल एवं व्यक्तित्वका परिचय मिलता है। पात्रोंके घूमने-फिरने, उठने-बैठने आदि कार्य एवं भाव-भंगिमा, मुद्रा आदि भी घटनाओं एवं भावनाओंको प्रकट करनेके बहुत बड़े साधन हैं। फिल्मोंमें तो ये साधन बड़े ही प्रभावशाली होते हैं। रेडियो-नाटकोंमें इन सभी साधनोंका अभाव है। यहाँ इन सबकी पूर्त्ति श्रव्य साधनोंसे ही करनी पड़ती है। इनके अति-रिक्त रंगमंच तथा सिनेमाके बहुत-से नाटकोंकी शांतिमें भी व्यंजना होती है। भासके नाटकोंके संबंधमें एक अंग्रेज आलोचकने लिखा है—'Its silence speaks' (इसका मौन भी बोलता है)। इसका अनुभव हमें उन फिल्मोंको भी देखते समय हमेशा ही होता है, जिनमें बिना किसी कथनोपकथनके कितने चलचित्र आँखोंके सामनेसे निकल जाते हैं। घट-नाओंकी गति एवं भावनाओंकी अभिव्यक्ति वहाँ केवल दृश्यों, पात्रोंकी मुद्राओं तथा पृष्ठभूमि-संगीतके द्वारा ही स्पष्ट हो जाती है। रेडियो-नाटक-के लिए यह असंभव है, क्योंकि इसमें दृश्य साधन हैं ही नहीं।

रंगमंचके नाटकोंमें और भी अनेक सुविधाएँ हैं। वहाँ एक ही दृश्यमें रंगमंचपर कई पात्र आ सकते हैं, पर दर्शकोंको उन्हें पहचाननेमें कोई कठि-नाई नहीं होगी। दर्शक यह भी हमेशा देखते और समझते रहते हैं कि कौन पात्र कब रंगमंचसे बाहर गया और कब रंगमंचपर लौटा। इन क्रियाओंको शब्दोंमें व्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। रेडियो-नाटकोंमें यदि इन बातोंपर ध्यान न दिया जाय, तो श्रोताओंके लिए उन्हें समझना ही असंभव हो जाय।

एक और दृष्टिसे देखें, तो ज्ञात होगा कि रेडियो-नाटककी कला कितनी कठिन है। लोग रंगमंचके नाटक देखने अपनी इच्छासे जाते हैं, पैसे खर्च करते हैं और तब नाटक देखने बैठते हैं। चूँकि सब लोग अपने पैसोंका पूरा

उपयोग करना चाहते हैं, वे शांत होकर नाटक देखनेका प्रयत्न करते हैं। बीचमें कहीं कोई शोर-गुल नहीं होने पाता। यदि दो आदमी आपसमें बातें भी करना चाहते हैं, तो अगल-बगलके लोग उन्हें चुप कर देते हैं। तात्पर्य यह कि यदि नाटकमें कुछ नीरसता रही, तो भी दर्शक उसे देखते हैं। लेकिन रेडियो-नाटकके श्रोताओंके लिए ऐसा कोई बंधन नहीं है। उन्हें नाटक सुननेके लिए कहीं जाना नहीं पड़ता, पैसा नहीं खर्च करना पड़ता, इसलिए नीरसताका थोड़ा-सा आभास मिलनेपर भी वे रेडियो-सेट बंद कर देंगे, अथवा मीटर बदलकर दूसरा कुछ सुनने लगेंगे। साथ ही, श्रोताओंकी आपसकी बातचीत, बच्चोंके शोर-गुल, किसीके आने-जानेकी आवाज़, किवाड़की खड़खड़ाहट-जैसी कितनी ही चीज़े है, जो बीच-बीचमें श्रोताओंका ध्यान भंग किया करती हैं। ये ही कारण हैं कि रेडियो-नाटककारका उत्तरदायित्व बहुत कठिन है। उसे एक क्षणके लिए नीरस नही होना है और अनेक विघ्न-बाधाओंके बावजूद अपनी कृतिको सामान्य श्रोताओंके लिए भी बोधगम्य बनाना है।

रेडियो-नाटकोंकी तुलनामे रंगमंच-नाटकोंको एक और सुविधा प्राप्त है। रंगमंचके नाटक समूहके लिए लिखे जाते हैं, रेडियोके नाटक व्यक्तिके लिए। समूहकी प्रतिक्रिया व्यक्तिकी प्रतिक्रियासे भिन्न होती है। समूहमें सवेदन-शक्ति अधिक होती है, वह शीघ्र ही भावावेशमें आ सकता है, उत्तेजित हो सकता है। यदि किसी करुण दृश्यको देखकर समूहके कुछ व्यक्तियोंकी आँखोमे आँसू आ जायँ, तो बहुत संभव है कि दूसरे व्यक्तियोंकी आँखें भी भर आएँ। जब लोग समूहमे एक साथ बैठकर रंगमंचके नाटक देखते हैं, और पात्रोंके राग-विरागोंसे प्रभावित होते हैं, तो यह प्रभाव उनकी मुख-मुद्राओंपर स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। रंगमंचके अभिनेता इसे देखते हैं, उन्हें आभास मिलता है कि वे कहाँ तक दर्शकोंको प्रभावित कर सके है। अभिनेता दर्शकोंकी प्रतिक्रियासे स्वयं प्रभावित होते है, उन्हें अपने अभिनयमे अधिक कुशलता बरतनेकी प्रेरणा मिलती है। लेकिन रेडियोके स्टूडियोमे कोई दर्शक नही होता, सब अभिनेता ही होते है, जो या तो एक-दूसरेको देखते है, या अपने हाथमें रखी हुई नाटककी प्रतिसे अपना अंश पढ़ते

रहते हैं । बगलके कमरेमें, शीशेकी खिड़कीकी दूसरी तरफ़ संचालक या प्रस्तुतकर्ता (producer) रहता है अवश्य, पर अभिनेता समूहकी प्रतिक्रियासे वंचित रह जाते हैं; उन्हें ज्ञात नहीं होता कि वे अपने श्रोताओंको कहाँ तक प्रभावित कर रहे हैं । रेडियो-नाटककार इससे यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो घटनाएँ समूहको प्रभावित कर सकती हैं, संभव है, वे व्यक्तिको प्रभावित न करें । इसलिए उसे उन्ही विषयों और घटनाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जिनसे वह अपने व्यक्ति-श्रोताओंको प्रभावित करनेमें समर्थ हो सके ।

जहाँ रंगमंच-नाटकोंमें इतनी सुविधाएँ हैं, वही उनकी कुछ सीमाएँ भी हैं । उनमें दृश्य-परिवर्त्तन एक समस्या है, जिससे उनमें कमसे कम दृश्य रखनेका प्रयत्न किया जाता है । उनमें न कोई दृश्य बहुत छोटा हो सकता है, न कोई दृश्य बहुत बड़ा । लेकिन रेडियो-नाटकमें ऐसा कोई बंधन नही है । इसमें तीन पंक्तियोंका भी दृश्य हो सकता है, और सौ पंक्तियोंका भी । फिल्मोंमें तो यह सुविधा और भी अधिक है । उनमें दृश्य-परिवर्त्तन तो पल-पल होता रहता है । दृश्य-परिवर्त्तनकी कठिनाईके कारण रंगमंच-नाटकके दृश्योंमें दूसरे स्थानोंकी घटनाओंका विवरण सल्लापमें ही देना पड़ता है । पर यदि हम आवश्यक समझें, तो रेडियो-नाटकमें दूसरे स्थानों-की घटनाओंको भी प्रत्यक्ष रूपमें चित्रित कर सकते हैं ।

रंगमंचमें दूसरी समस्या है पात्रोंकी वेश-भूषाकी । यदि कोई पात्र पहले दृश्यमें राजकीय वस्त्राभूषण पहनकर आता है, तो दूसरे दृश्यमें हम उसे युद्धकी वेश-भूषामें नही उपस्थित कर सकते । उसे इतना अवकाश मिलना चाहिए कि वह अपना परिधान बदल सके । रेडियो-नाटकमें ऐसी कोई कठिनाई नही है । रेडियो-अभिनेता अपने साधारण कपड़े पहनकर ही अभिनय करता है, वेश-भूषा उसके लिए कोई समस्या नही है । वह लगातार कई दृश्योंमें बड़ी सरलतासे आ सकता है ।

रंगमंच-नाटकोंकी एक सीमा यह भी है कि उनमें घटनाओंकी गति-शीलता बहुत कम रहती है । ऐसा संभव भी नही है, क्योंकि वहाँ दृश्य-

परिवर्तन जल्दी-जल्दी नहीं किया जा सकता। पर रेडियो-नाटकोंमें गतिका प्रदर्शन बड़ी सरलतासे किया जा सकता है। फिल्मोंमें तो यह विशेषता सबसे अधिक होती है।

रंगमंचपर भीड़, घुड़दौड़, हवाई जहाज आदिके दृश्य नहीं दिखलाये जा सकते, पर रेडियोके लिए यह बहुत ही आसान काम है।

इनके अतिरिक्त रेडियो-नाटककी जो अपनी विशेषताएँ है, उनका उल्लेख अगले अध्यायमें किया गया है। रेडियो-नाटककी सीमाएँ और सुविधाएँ समझ लेनेके बाद हम कह सकेंगे कि रेडियो-नाटककी कला किस प्रकार एक स्वतन्त्र कला है। रेडियो-नाटककार उसकी सीमाएँ समझकर और सुविधाओंका अधिकाधिक उपयोग कर सफल रेडियो-नाटककी रचना कर सकता है।

रेडियो-नाटक : सीमाएँ और संभावनाएँ

जैसा कि पिछले अध्यायमें हम देख चुके हैं, रेडियो-नाटकके उपकरण बहुत परिमित हैं, और इसी कारण इसकी कुछ अपनी सीमाएँ हैं। यह केवल श्रव्य है, श्रव्य-साधनोंके द्वारा ही नाटककारको अपनी कृतिका निर्माण करना पड़ता है। रेडियो-नाटककार जानता है कि कान आँखोंका काम नहीं कर सकते, फिर भी वह सभी दृश्योंको अपने श्रव्य साधनोंसे उपस्थित करनेका प्रयत्न करता है। बहुत-से ऐसे भी दृश्य हैं, जिन्हें चित्रित करनेमें वह अपनेको असमर्थ पाता है। दूसरी बात यह है कि रेडियो-नाटकका समय भी सीमित रहता है। सामान्यतः रेडियो-नाटक पन्द्रह, तीस या पैंतालीस मिनट अथवा एक घंटेके लिए लिखे जाते हैं। इस सीमित अवधिमें ही नाटककी सभी अवस्थाओंको उपस्थित करना पड़ता है। इन सीमाओंके रहते हुए भी रेडियो-नाटककी जो अपनी विशेषताएँ हैं, वे अन्य नाट्य-स्वरूपों की तुलनामें बड़ी स्पष्टतासे परिलक्षित होती हैं। फिल्म-नाटक तो अधिक साधन एवं शक्ति-सम्पन्न होते हैं, उनमें ये विशेषताएँ मिल सकती हैं, पर यहाँ ये सामान्य रंगमंच-नाटकोंकी तुलनामें उपस्थित की जा रही हैं।

रेडियोपर फैंटेसी[1] (कल्पना-प्रधान नाटक) बड़ी स्वाभाविक लगती है। किसी प्रकारके दृश्य, स्थान एवं पात्रकी कल्पना इसमें सरलतासे की जा सकती है। इसमें हम असाधारण एवं विशाल व्यक्तित्ववाले पात्रोंकी कल्पना कर सकते हैं, आजके किसी कलाकारको अनुसूया और प्रियंवदा-जैसी प्राचीन-कालीन पात्रोंसे बातें करते सुन सकते हैं (देखिए—'वे अभी भी क्वाँरी हैं'), पशु-पक्षियोंके रूपमें मानव-रूपका परिवर्तन देख सकते हैं,

---

१ 'फैंटेसी' की पूरी चर्चा आगे इसी नामके प्रकरणमें की गई है।

तृतीय महायुद्धसे ध्वस्त संसारमें बचे हुए व्यक्तियोंकी कहानी सुन सकते हैं।[1] रेडियोपर इस तरहकी बातें अस्वाभाविक नहीं लगतीं।

काव्य-नाटकोंके लिए रेडियोने बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया है। रंगमंच और फिल्म-नाटकोंमें पात्रोंका काव्यमय संलाप अस्वाभाविक लग सकता है, पर रेडियो-नाटकमें नहीं। हम लोगोंके यहाँ रंगमंचपर काव्य-नाटकके अभिनयकी कल्पना भी नहीं की जाती, लेकिन जहा रंगमंचपर काव्य-नाटक होते हैं, वहाँके अनुभवसे यह बात सिद्ध हो चुकी है। भॉल गिलगुडने लिखा है–"All the valient efforts of the Mercury Theatre havefailed as yet to break down what seems to be an instinctive aversion, on the part of English theatre audiences, from the play in verse. In radio there is another and a more cheerful story to tell. Since Geoffrey Bridson paved the way with his 'March of the Forty-Five' first produced in the early thirties, the record of the broadcast play in verse has been an increasingly distinguished and interesting one." रेडियो-काव्य-नाटकोंकी लोकप्रियता इंगलैंडमें बढ़ रही है। हमारे यहाँ भी अब रेडियोके लिए काव्य-नाटक लिखे जा रहे हैं। काव्य-नाटक लिखनेवाले कवियोंके लिए आज अनेक सुविधाएँ सम्मुख हैं। स्वयं भॉल गिलगुडके शब्दोंमें—'To the modern poet, therefore, who writes to be heard rather than to be read. the radio play in verse......offers unrivalled opportunities.'

रेडियो-नाटकमें प्रतीकात्मक पात्रोंको बड़ी सरलतासे उपस्थित किया जा सकता है। ये तनिक भीअ स्वाभाविक नही लगेंगे। 'विकलागोंका देश' काव्य-नाटकमें यह कल्पना की गई है कि हमारी वर्त्तमान सामाजिक

---

[1] दे० 'सृष्टिकी साँझ' काव्य-नाटक।

व्यवस्थामें सभी व्यक्ति विकलांग हैं, सभी अंधे, लँगड़े, लूले या बौने हैं; कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं, जो पूर्ण हो। जिन मनुष्योंकी शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाता, उन्हें विकलांग कहना अनुचित नहीं है। ऐसे पात्र प्रतीकात्मक हैं, और इन्हें उक्त नाटकमें बड़े स्वाभाविक ढंगसे चित्रित किया गया है। प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(दूरसे 'जिंदगी–कुछ नहीं' गाते हुए लोगोंकी आवाज निकटतर आती है।)

स्त्री– मैं सोच रही हूँ,
क्या यह सब!
ये कौन व्यक्ति
जीवनका यह मर्सिया
गा रहे सिसक-सिसक?

पुरुष– चाहिए तुम्हें सब परिचय कुछ?
क्या परिचय दूँ!
परिचय ये अपने ही देंगे।

(भीड़ से कुछ फुसफुसाहटकी आवाज आती है)

पुरुष-स्वर १– मैं लँगड़ा हूँ!
स्त्री-स्वर– मैं अंधी हूँ!
पुरुष-स्वर २– मैं लूला हूँ!
पुरुष-स्वर ३– मैं बौना हूँ!
पुरुष-स्वर ४– मैं हूँ कुरूप!
सब – हम सब कुरूप!

इन प्रतीकात्मक पात्रोंकी बातोंसे विकलांगोंके देशकी कल्पना सार्थक कर दी गई है। इसीसे संबंधित एक और बात यहीं कह दी जाय। 'विकलांगोंका देश' विचार-प्रधान नाटक है। पात्रोंके माध्यमसे वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाके संबंधमें एक विचार उपस्थित किया गया है। रेडियोमें विचार-प्रधान नाटकोंके लिए पर्याप्त सुविधाएँ हैं। लेखकोंकी सुविधाके लिए बी० बी० सी० द्वारा प्रचारित 'Some Notes On

Radio Drama' में कहा गया है—'There is one dramatic field which can be most profitably exploited by the radio dramatist : the play of ideas. Not that the play of action should be devoid of ideas. That would be absurd. But the microphone offers an extra-ordinarily sympathetic means of expression to the dramatist who has something to say or discuss which he is convinced could be made interesting to an audience of millions.' ऐसे नाटकोंमें यह आवश्यक है कि विचार सजीव पात्रों-द्वारा उपस्थित किये जायँ।

रेडियोपर जड़ पदार्थोंका मानवीकरण बहुत स्वाभाविक लगता है। 'लौहदेवता' काव्य-नाटकमें यंत्र-युगको 'लौहदेवता'की संज्ञा देकर मानव बना दिया गया है। प्रसरणके समय यंत्रों-द्वारा लौहदेवताकी आवाज़ कुछ गंभीर कर दी जाती है, जो बहुत प्रभावपूर्ण एवं स्वाभाविक ज्ञात होती है।

रेडियो-नाटकोंमे पात्रोंका सम्मिलित कथन या समवेत-स्वर (chorus) भी दिया जा सकता है। ऊपर 'विकलांगों का देश'से जो उद्धरण दिया गया है, उसमें एक स्थलपर समवेत-स्वरका व्यवहार हुआ है। इससे समूहकी व्यंजना होती है। इस प्रकार यदि हम जन-समाजको पात्रके रूपमें उपस्थित करना चाहें, तो आसानीसे कर सकते हैं। 'लौहदेवता'में जन-समाज ही पात्र है, व्यक्ति-विशेष नहीं। उदाहरणके लिए—

स्त्री—इसीलिए आशंकित औ,
भयभीत, क्षुब्ध हो,
शरण तुम्हारी आये हैं हम !

समवेत—लौहदेवता,
शरण तुम्हारी आये हैं हम !

मनोवैज्ञानिक चित्रणकी पर्याप्त सुविधाएँ भी रेडियो-नाटकमें प्राप्त हैं। यदि किसी पात्रका अन्तर्द्वन्द्व चित्रित करना हो, तो उसके विरोधमें उसके मनको खड़ा करके कथनोपकथन करा सकते हैं। एक उदाहरण 'कहानियोंके रेडियो-रूपान्तर'के प्रसंगमें 'गोटेकी टोपी'से दिया गया है। फिल्मोंमें ऐसे अवसरोंपर पात्रकी प्रतिमूर्त्ति, अथवा दर्पण या जलमें उसके प्रतिबिम्बके साथ पात्रका कथनोपकथन कराया जाता है।

इसके अतिरिक्त रेडियो-नाटकोंमें विक्षिप्तावस्थाका भी चित्रण किया जा सकता है। एक उदाहरण 'दोषी कौन ?' नाटकके अंतिम भागसे दिया जा रहा है। एक व्यक्ति जीवनके संघर्षोंमें पड़कर टूट जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। वह लोगोंकी समझसे बेमतलबकी बातें बोलता है, लेकिन ये बेमतलबकी बातें कहीं बाहरसे नहीं आ टपकतीं, इनका जन्म तो उस व्यक्तिके जीवनसे ही होता है। उसके अवचेतनमें जो कटु स्मृतियाँ छिपी हुई हैं, उन्हींसे प्रेरित होकर वह बेमतलबकी बातें बोलता है। एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—

एक आदमी—यहाँ बैठिए उमेश बाबू !

उमेश—यहाँ बैठूं ? (अट्टहास)

(पृष्ठभूमिमें तीव्र संगीत)

उमेश—तो, मुझे इस घरमें स्थान नहीं मिलेगा ?

रघुवीर—मैं लाचार हूँ उमेश !

उमेश—तब मेरे लिए कोई उपाय नहीं है ?

रघुवीर—नहीं।

(स्मृति-दृश्य समाप्त)

उमेश—(अट्टहास)

एक आदमी—उमेश बाबू, यहाँ आइए !

उमेश—यहाँ आऊँ ? —नहीं आऊँगा, नहीं आऊँगा, मेरे लिए कोई स्थान नहीं है। (अट्टहास)

(पृष्ठभूमिमें तीव्र संगीत)

रघुवीर—अभी-अभी हीरालाल और मनोहरप्रसाद आये थे। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया है कि मैं बिरादरीमें रहना चाहूँ, तो तुम्हें घरमें न रक्खूँ !

उमेश—लेकिन उनके कहनेसे क्या ?

रघुवीर—नहीं उमेश, वे गाँवके प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं।

(स्मृति-दृश्य समाप्त)

उमेश—(अट्टहास) नहीं आऊँगा, नही आऊँगा, तुम सब प्रतिष्ठित व्यक्ति हो, प्रतिष्ठित ! (अट्टहास)

स्वप्न-दृश्य तो रेडियो-नाटकोंके लिए बहुत ही आसान हैं। जिस प्रकार विक्षिप्तावस्थाके प्रदर्शनमें संगीत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, उसी प्रकार स्वप्न-दृश्यके भी। 'अंबपाली'के रेडियो-रूपान्तरमें (आगे 'रेडियो-रूपान्तर' के प्रसंगमें) इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

समयके बीतनेकी व्यंजना जितनी सरलतासे रेडियो-नाटकमें की जा सकती है, उतनी सरलतासे रंगमंच-नाटकमें नही। इसके लिए भी संगीतका सहारा लिया जाता है। कभी-कभी नैरेशनका भी उपयोग किया जाता है। उदाहरण 'नैरेशन'के प्रसगमें आगे देखा जा सकता है।

रेडियो-नाटकमें काल और स्थानका कोई बन्धन नहीं है। अतीत और भविष्य, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव, सबकी ओर बड़ी आसानीसे यात्रा की जा सकती है। 'वे अभी भी क्वाँरी हैं' के प्रारंभिक अंशसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार निस्सीम कालमें यात्रा की जा सकती है। स्थान-परिवर्त्तन भी बड़ी जल्दी-जल्दी किया जा सकता है। उदाहरण 'अंबपाली'के रूपान्तरसे उद्धृत अंशमें आगे देखा जा सकता है। ये सुविधाएँ रेडियो-नाटकमें प्राप्त हैं, इसका अर्थ यह नही कि हमेशा इनका उपयोग किया ही जाय। यहाँ सकलन-त्रयका कोई बन्धन नहीं है अवश्य, लेकिन इस स्वतन्त्रताका उपयोग इस प्रकार न हो कि घटनाओंकी शृंखला टूट जाय, और नाटकीय प्रभावमें किसी प्रकारकी रुकावट आ जाय।

अन्य नाटकोंमें घटनाओंकी गति आगेकी ओर ही होती है, पर रेडियो-नाटकमें, आवश्यक होनेपर, पात्र पीछे मुड़कर अपने अतीतको भी देख सकते

हैं। इसे अंग्रेज़ीमें 'फ्लैश-बैक' (Flash-back) कहते हैं। 'नैरेशन'के प्रसंगमें आगे 'रंग और रूप'मे एक उद्धरण दिया गया है, जिसमें माईकेल एंजिलो अपनी मृत्युकी घड़ीमें अतीतकी स्मृतियाँ देख रहा है।

इसके अतिरिक्त रेडियो-नाटकमें किसी भी स्थानका दृश्य उपस्थित किया जा सकता है। इसमें हम स्वर्ग, नरक, आफ़िस, ट्रेन, युद्ध आदि सब स्थानोंको चित्रित कर सकते हैं।

रंगमंच-नाटकोंकी तुलनामें रेडियो-नाटकोंकी एक विशेषता और है। रंगमंचपर, यदि प्रेम या षड्यंत्रका प्रसंग हो, तब भी पात्रोंको ज़ोरसे बोलना पड़ता है, जो अस्वाभाविक लगता है। रेडियोपर यह बात नहीं है। यहाँ ज़रूरत पड़नेपर पात्र धीमीसे धीमी आवाजमे बोल सकते हैं। इससे नाटकमें किसी प्रकारकी अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। स्वगत-कथन भी रेडियोपर बहुत स्वाभाविक लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया, वही सब कुछ नही है। ये तो सकेत मात्र हैं। रेडियो-नाटकमें अभी अनेक संभावनाएँ और छिपी हुई हैं, जिन्हें प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार स्वयं खोज निकालेंगे। उदाहरणके लिए, रेडियो-नाटकमे चित्र या दृश्य इस प्रकार दिखाया जा सकता है, जैसे हम पेंटिग देख रहे हों। पेंटिग या चित्रमें जो व्यक्ति और वस्तुएँ चित्रित होती हैं और उनकी 'स्थिति' का जो पारस्परिक अनुपात (दूरी या सान्निध्य) होता है, उसे हम उनके या उनसे सबध रखनेवाले स्वरोकी अपेक्षाकृत दूरी या निकटताके द्वारा रेडियो-नाटकमें चित्रित कर सकते है।

रेडियो-नाटकके उपकरण

यह हम देख चुके हैं कि रंगमंच, फिल्म और रेडियोके लिए लिखे गये नाटकोंमें पर्याप्त अंतर है। रंगमंच और फिल्मके नाटकोंमें जो अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं, रेडियो-नाटकोंमें उनका नितांत अभाव है। रेडियो-नाटकोंमें दृश्य-तत्त्व बिल्कुल नहीं रहते। उनकी कमी श्रव्य साधनोंसे पूरी करनी पड़ती है। ये श्रव्य साधन केवल तीन ही हैं, जिनका रेडियो-नाटकोंमें व्यवहार किया जाता है —भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। इन तीनोंका आधार है ध्वनि। ध्वनि अभिव्यक्तिका बहुत सशक्त साधन है। इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। इसकी अभिव्यंजना-शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि कोई ध्वनि कितने जोरसे और कितने अंतरपर उत्पन्न होती है, उसकी गति क्या है, तथा उसमें लयपूर्णता किस मात्रामें है। रेडियो-नाटक-विशेषज्ञ आर्नहाइमने तो कहा है कि ध्वनिकी ये विशेषताएँ या गुण ही सभी श्रव्य कलाओंके सृजनात्मक साधन हैं। यह तो हम अपने प्रतिदिनके जीवनमें ही देखते हैं कि ध्वनि-परिवर्त्तनके साथ ही शब्दोंके अर्थमें भी परिवर्त्तन हो जाता है। एक ही शब्दको भिन्न-भिन्न लहजेमें उच्चरित करके, एक ही शब्द या वाक्यकी कई बार आवृत्ति करके उनसे हर्ष, शोक, स्नेह, घृणा, क्रोध आदि अनेक भावनाओंकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। यह बात संगीत और ध्वनि-प्रभावोंपर भी समान रूपसे लागू है। जो कार्य चित्रकार रंगोंके द्वारा करता है, वही रेडियो-नाटककार और अभिनेता ध्वनियोंके द्वारा। अब हम रेडियो-नाटकके तीनों उपकरणोंपर अलग-अलग विचार करते हैं।

भाषा

भाषा ही रेडियो-नाटकका प्राण है। इसके अभावमें नाट्य-स्वरूप एक पलके लिए भी खड़ा नहीं हो सकता। रेडियो-नाटकोंका भवन शब्दोंपर

ही खड़ा होता है। शब्दोंके द्वारा ही नाटककारको दृश्य-तत्त्वोंकी कमी पूरी करनी पड़ती है। लेकिन यहाँ नाटककारको शब्दोंके श्रव्य स्वरूपपर ही ध्यान देना है, लिखित स्वरूपपर नहीं। उसे याद रखना है कि शब्द अक्षरोंका समूह नहीं, बल्कि एक ध्वनि है। बोलनेपर शब्दोंकी जो ध्वनि हम सुनते हैं, वही रेडियो-नाटककारका साधन है, जिसके द्वारा वह अपनी कला-कृतिकी रचना करता है। भाषाका जन्म शब्दोंकी श्रव्य-ध्वनियोंसे हुआ है, लेकिन जबसे मुद्रण-यंत्रका आविष्कार हुआ है, भाषामें शब्दोंके लिखित रूपको महत्त्व दिया जाने लगा है। इस सबंधमें श्री सोमनाथ चिबने सत्य ही लिखा है—'The written word inculcated among writers the habit of thinking in terms of the sentence and the paragraph. It gradually took the writer and the reader away from the meaning of the words, the images and responses each word evokes when it is spoken. It encouraged the writing of plays that come out better on the page than on the stage, of poetry which is more concerned with how it is printed than how it is read.' (Some Aspects of Broadcasting in India)

तात्पर्य यह कि मुद्रण-यत्रके आविष्कारसे लोगोंका ध्यान शब्दोंके लिखित रूपपर ही अधिक गया, लेकिन रेडियो-नाटकोंमें उनका कोई मूल्य नहीं है। रेडियो-नाटककारके लिए आवश्यक है कि वह श्रव्य शब्दोंकी शक्ति पहचाने, यह समझे कि किन शब्दों और वाक्योंका प्रभाव श्रोतापर किस प्रकार पडेगा। शब्दोंके लिखित और श्रव्य स्वरूपमें क्या अंतर है, इसके लिए एक उदाहरण देखिए—

'यदि व्यक्तिमें एक विशिष्ट स्वत्व है—और हमने सिद्ध किया है कि महत्त्वका अंश वही है—तब उसमें अनुकूलताकी माँग भी होगी ही, संतोष-

जनक सामाजिक परिवृत्ति न मिलनेकी कसक भी होगी ही—तब क्या फिर हम उसी भोंडी अतिव्याप्तिकी ओर लौट आएँ ?'

इस वाक्यका अर्थ-ग्रहण एक बार पढ़नेपर संभव नहीं। इसके लिए हम इसे अनेक बार भी पढ़ सकते हैं, इसमें व्यवहृत डैश आदि चिह्नोंसे सहायता ले सकते हैं, लेकिन रेडियोमें ये बातें नहीं हैं। वहाँ श्रोता किसी शब्द या वाक्यको एक ही बार सुनता है, वह इच्छा रखते हुए भी उसे दुबारा नहीं सुन सकता, रेडियोपर बोलनेवाला व्यक्ति उसे इतना अवकाश नहीं देगा कि वह तनिक रुककर किसी वाक्य या वाक्यांशका अर्थ पूरी तरह समझ ले। साथ ही रेडियो-श्रोताके लिए डैश आदि चिह्नोंका कोई महत्त्व नहीं है, उसे तो केवल पढ़नेवालेके ढंगपर निर्भर रहना है।

तात्पर्य यह कि रेडियोमें केवल उन्हीं शब्दों और वाक्योंका मूल्य है, जो सरलतासे बोले जा सकें और श्रोता भी जिनका अर्थ-ग्रहण शीघ्र ही बिना किसी आयासके कर लें।

रेडियोके लिए नाटक आदि लिखनेवाले कलाकारोंके पास पर्याप्त शब्द-भंडार होना चाहिए। लिखित रूपमें एक ही शब्द दस बार हमारी आँखोंके सामने आ सकता है, लेकिन रेडियोपर शब्दोंकी आवृत्ति बहुत खटकती है। एक ही शब्दका व्यवहार बार-बार न किया जाय, इसके लिए उस शब्दके पर्यायसे काम लेना चाहिए।

तो, रेडियो-नाटकका प्रमुख श्रव्य साधन है भाषा, जिसका व्यवहार दो रूपोंमें किया जाता है—(१) कथनोपकथन या संलापके रूपमें और (२) प्रवक्ताके कथन अथवा नैरेशन (Narration) के रूपमें। अब हम इनपर बारी-बारीसे विचार करते हैं।

[१] संलाप

सफल संलापकी पहली विशेषता यह होनी चाहिए कि अभिनेता उसे सरलतासे बोल सकें। शब्दों और वाक्योंका संगठन इस प्रकारका होना

चाहिए कि अभिनेताओंको उनके बोलनेमें किसी प्रकारकी कठिनाईका अनु-भव न हो। एक उदाहरणसे बात स्पष्ट हो जायगी। 'अम्बपाली' नाटककी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'कहीं अजीब देशमें पहुँच गई हूँ, जहाँ चारों ओर फूल-ही-फूल हैं। जिन्हें हम गूलर-पाकड़-पीपल कहते हैं, उनमें भी फूल लगे हैं—चम्पाके, गुलाबके, पारिजातके। जमीनपर घास-फूसकी जगह फूलोंकी पंखड़ियाँ बिछी हैं और धूलकी जगह पीत-पराग बिखरा है।'

इसी उद्धरणका एक परिवर्त्तित रूप देखिए—

'कितना सुंदर देश है यह! फूलोंका देश! राशि-राशिके फूल! चारों ओर फूल-ही-फूल—चम्पाके, गुलाबके, पारिजातके! धरतीपर फूलोंकी पंखुड़ियाँ, धूलके बदले पीत पराग!'

दोनों उद्धरणोंको बोलकर पढनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि किसके पढनेमे अधिक सुगमता होती है। प्रथम उद्धरण अपने लिखित रूपमे ठीक है, लेकिन दूसरेमें जो प्रवाह और गति है, वह पहलेमे नही है। नाटकोंके संलापोंमे यह विशेषता अनिवार्य है। सफल सलापोंका लिखना बहुत बडी कला है, और कुछ अशोंतक कठिन भी। प्रसिद्ध रेडियो-नाटक-विशेषज्ञ भाल्ड गिलगुडके विचारमें तो सफल सलाप लिखनेकी शक्ति जन्मजात होती है—'Now, in my opinion, for what is worth, the ability to write dialogue is one with which one is born or not. It cannot be learned and it cannot be taught.' लेकिन बात ऐसी नहीं है। अभ्याससे सब कुछ सभव है। लियोनेल गैमलिनका परामर्श उल्लेखनीय है—'Constant observation of the way people talk and frequent trial of the dialogue by reading it aloud, will do much to keep the radio writer on the right lines.' लोगोंकी बोलचालके ढंगका अध्ययन तथा बोल-

बोलकर संलापोंको लिखनेका अभ्यास नाटककारको संलाप-लेखनमें कुशल बना सकता है।

सफल नाटकीय कथनोपकथनकी दूसरी विशेषता यह है कि वह बड़ी शीघ्रतासे उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आगे बढ़ता जाता है। एक अंग्रेज लेखकने सफल कथनोपकथनकी उपमा एक ऐसे गेंदसे दी है, जो कहीं ठहरता नहीं, बल्कि एक हाथसे दूसरे हाथमें होता हुआ सतत गतिशील रहता है। ऐसे कथनोपकथनोंसे नाटकमें एकरसता नहीं आने पाती और घटनाओंकी गतिशीलता बनी रहती है। ऐसा तभी संभव है, जब लेखक कम-से-कम किंतु उचित शब्दोंके द्वारा संवाद-रचनाका प्रयत्न करे। संक्षिप्ति सफल संलापोंकी बहुत बड़ी विशेषता है। शब्दों एवं अलंकारोंकी छटा दिखलानेका अवकाश रेडियो-नाटकमें नहीं रहता। इसका मोह त्यागकर ही कोई संक्षिप्त एवं प्रभावशाली संलाप लिख सकता है। लंबे-लंबे संलाप मनको उबानेवाले होते हैं। उनसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिए। हाँ, आवश्यकता पड़नेपर स्थान-स्थानपर बड़े संलाप भी लिखे जा सकते हैं, जैसे कोई व्यक्ति भावावेशमें बोल रहा हो,तो उसके संलापमें बड़े-बड़े अंश दिये जा सकते हैं।

सफल संलापके लिए यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्णतः स्वाभाविक हो। यह तभी संभव है, जब वह पात्रोंकी चारित्रिक विशेषताओंके अनुरूप हो। जैसा पात्र हो, जैसी उसकी शिक्षा-दीक्षा हो, जैसे वातावरणमें वह पला हो, वैसा ही उसका वार्त्तालाप होना चाहिए। इस प्रकारका सफल संलाप पात्रोंके चरित्रांकनमें भी सहायता पहुँचाता है। स्पष्ट है कि अगर किसी नाटकमें चार पात्र हों, तो चारोंकी भाषा अपनी-अपनी होनी चाहिए, उनके बोलनेका ढंग भी अलग-अलग होना चाहिए। किसी पात्रके संलापकी ऐसी पंक्तियाँ, जिन्हें नाटकका कोई भी पात्र सरलतासे बोल सके, नाटकको असफल बना देंगी।

संलापोंकी लयपूर्णतापर भी ध्यान देना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्यकी अपनी लय होती है। भावात्मक स्थितिके साथ-साथ वाक्योंकी लय-

पूर्णता तो बदलती ही है, यह बहुत अंशोंतक वाक्योंके संगठनपर भी निर्भर है। समान रूपसे संगठित वाक्योंमें समान ही लयपूर्णता होती है। इससे रचनामें एकरसता आ जानेकी आशंका रहती है। लेखकको सदा इस बातपर ध्यान रखना है कि संलापके वाक्योंका संगठन सदा बदलता रहे, जिससे लयपूर्णतामें भी विविधता बनी रहे। उदाहरण आगे 'रेडियो-रूपक' के प्रसंगमें देखिए, जिसमें मिथिलाके दार्शनिकोंका उल्लेख किया गया है।

संलापकी ये विशेषताएँ रंगमंच तथा फिल्म-नाटकोंके लिए भी सही हैं, पर रेडियो-नाटकमें संलापको अन्य कार्य भी करने पड़ते हैं। रेडियो-नाटकमें दृश्य-तत्त्वोंको प्रस्तुत करनेका बहुत बड़ा साधन वार्त्तालाप है। घटना-स्थलका वर्णन, वातावरणका निर्माण इसीके द्वारा किया जाता है। एक उदाहरण-द्वारा यह बात स्पष्ट की जाती है—कबीर-जयंतीके लिए लिखित एक नाटकमें कबीरकी पत्नी कह रही है—

लोई—आप देखते नहीं ? यह भयावनी रात ! चारों ओर घोर अंधकार ! प्रकृति उत्पात मचा रही है, आँधी चल रही है, तूफ़ान उठ रहा है, प्रलयके बादल उमड़े चले आ रहे हैं, वर्षा हो रही है, घनघोर वर्षा ! सुनिए, ध्यानसे सुनिए, यह आँधी कह रही है, ये मेघ कह रहे हैं—'लोई, तू पाप करने जा रही है।' नहीं सुनते आप ? ये चमकती हुई बिजलियाँ मुझे मना कर रही हैं, कह रही हैं—'मत जाओ लोई, मत जाओ।'

वार्त्तालापके बीचमें आये हुए इस छोटे अंशमें प्राकृतिक वातावरण भी उपस्थित हो जाता है, भावाभिव्यक्ति भी हो जाती है, पात्र-परिचय भी मिल जाता है। वार्त्तालापके प्रसंगमें पात्र-परिचयपर विशेष ध्यान रखना पड़ता है, जिससे श्रोता हमेशा यह समझता रहे कि कब कौन पात्र किससे बातें कर रहा है। उदाहरणके लिए ये पंक्तियाँ देखिए—

रेखा—रात बीत रही है माधव !

माधव—मेरी आँखोंमें नींद नहीं है।

रेखा—मैं कहती हूँ, अब सो जाओ।

माधव—नहीं रेखा, अभी मैं नहीं सो सकता।

स्पष्ट है कि रेखा और माधवमें बातें हो रही हैं। ऐसे अंशोंसे प्रत्येक रेडियो-नाटक भरा हुआ मिलेगा।

भाव-भंगिमा, मुद्रा (रस-सिद्धान्तके अनुभाव) आदिका भी संकेत वार्तालापके द्वारा ही किया जाता है। 'विषादकी छाया'की ये पंक्तियाँ देखिए—

शंकर—क्या देख रहे हो सुरेश ?

सुरेश—मैं देख रहा हूँ तुम्हारा मुख, तुम्हारे मुखकी रेखाएँ, तुम्हारी आँखें ! शंकर, तुम्हारे मुखपर विषादकी छाया घिरी हुई है, विषादकी गहरी छाया !

पात्रोंकी गतिविधि, उनकी उपस्थिति-अनुपस्थिति तथा उनके कार्य-कलापोंका भी परिचय संलापोंके द्वारा ही देना पड़ता है।

रेडियो-नाटकमें कथनोपकथनका कितना महत्त्व है, और उनसे कैसे प्रयोजन सिद्ध किये जा सकते हैं, यह स्पष्ट है। रेडियो-नाटककारमें, जैसा ऊपर कहा गया है, प्रभावशाली एवं भावानुरूप संलाप लिखनेकी क्षमता अनिवार्य है। हाँ, संलापकी सूक्ष्मता, विविधता, बलाघात आदिको समझना और उन्हें सजीव एवं सप्राण बनाना रेडियो-नाटकके अभिनेताओंका काम है।

[२] नैरेशन

'नैरेशन' (Narration) से तात्पर्य नाटकके उस अंशसे है, जिसमें कोई पात्र नाटकके क्रिया-कलापोंका वातावरण निर्मित करता है, आवश्यक विवरण देता है, घटनाओंकी शृंखला जोड़ता है, अथवा घटनाओंकी आलोचना करता है। ऐसे पात्रको नैरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, पुरुष-स्वर या स्त्री-स्वर, कथाकार, आलोचक अथवा उद्घोषक

कहा जाता है। ऐसे पात्रोंका काम नाटककी उन बातोंको कहना होता है, जो कथनोपकथनके अंतर्गत नहीं आ पातीं। श्रोता नाटकको भलीभाँति समझ सके, इसके लिए ऐसे पात्रोंका नियोजन स्थान-स्थानपर अनिवार्य हो जाता है। नैरेटरके विषयमें सामान्य धारणा है कि नैरेटर केवल रूपकोंमें ही होते हैं, नाटकोंमें नहीं। उदाहरणके लिए, प्रसिद्ध नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट, 'कालिदास'की भूमिकामें लिखते हैं—'रेडियोमें नाटक और रूपक दो भिन्न वस्तुएँ हैं; और रूपक तो स्पष्टतः रेडियोकी ही देन है। रूपकमें घटनाओंका संकलन एवं विकास 'सूत्रधार' या 'नैरेटर'के द्वारा होता है।' पर बात ऐसी नहीं है। रूपकोंमें तो नैरेटर होते ही हैं, पर आवश्यकता पड़नेपर नाटकोंमें भी इन्हें रखना पड़ता है। रूपकों और नाटकोंमें केवल यही अंतर नहीं है कि रूपकोंमें नैरेटर रहते हैं और नाटकोंमें नहीं रहते। दोनोंके वास्तविक अंतरका स्पष्टीकरण आगे 'रेडियो-रूपक' अध्यायसे हो जाएगा। हाँ, यह मतभेदका विषय अवश्य है कि नाटकोंमें नैरेटरको रखा जाय या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि नैरेटर घटनाओंकी गति रोक देते हैं, उनके विकासमें विघ्न उपस्थित करते हैं। दूसरे लोगोंका विचार है कि वातावरणकी सृष्टि करने अथवा घटनाओंकी शृंखला जोड़नेके लिए नैरेटरका रखा जाना उचित है। श्री फेलिक्स फेल्टनके शब्दोंमें—'There have been times when narrator's stock has been so low that radio-writers have resorted to contortions of ingenuity to dispense with him. At others, they have accorded him the highest seat of honour, and regarded him as the key to radio technique.' इस प्रकार नैरेटर कभी सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, कभी वह अनावश्यक समझा जाता है। इसका कारण यह है कि पहलेके अन्य नाट्य-स्वरूपोंमें इस प्रकारका पात्र नहीं था। रेडियो-नाटकोंमें इसका प्रवेश पहली बार हुआ है। इसीलिए इसके औचित्य-अनौचित्यके संबंधमें मतभेद है। इस विषयपर श्री फेलिक्स फेल्टनका विचार उचित जँचता है। उनके

अनुसार, स्थान-स्थानपर नैरेटर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। उन्होंने चेस्टरटनकी एक कहानीके रूपांतरमें नैरेटरको जान-बूझकर नहीं आने दिया है, लेकिन वे लिखते हैं कि कुछ पंक्तियोंके नैरेशनसे रूपांतरमें चेस्टरटनकी अपनी विशेषताएँ झलक जातीं। स्वयं उनके शब्दोंमें—'As an exercise in the use of radio-dialogue, I have, in the above passage, discarded the narrator entirely. But it would, in fact be a pity to do so. A few lines of narration are unobjectionable, and perform the valuable service of preserving the essential Chesterton touch'. हिंदीमें इस प्रकारके नैरेशनका एक उदाहरण—'कहानियोंके रूपांतर' शीर्षक अध्यायके अंतर्गत 'प्रसाद' जी की कहानी 'इन्द्रजाल'के रूपांतरमें देखा जा सकता है। हाँ, यह याद रखनेकी बात अवश्य है कि रेडियो-नाटकके जिस भेदको अगले अध्यायमें 'रेडियो-नाटक' कहा गया है, उसमें भरसक नैरेटर न आये, यही अच्छा है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकोंमें वह आ भी सकता है, पर सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक नाटकोंमें उसका प्रवेश कलात्मक नहीं समझा जाता।

नैरेटर दो प्रकारके होते हैं: (१) वे नैरेटर, जिनके व्यक्तिगत जीवनका नाटककी घटनाओंसे कोई संबंध नहीं होता। वे नाटकके क्रिया-कलापोंके तटस्थ दर्शक एवं प्रवक्ता होते हैं। (२) वे नैरेटर, जो नाटकके पात्र होते हैं, और जिनके जीवनकी घटनाएँ नाटकसे प्रत्यक्ष संबंध रखती हैं।

पहले प्रकारके नैरेटरकी बातोंसे ज्ञात होता है, जैसे वह नाटककी सभी घटनाओंसे परिचित हो, जैसे वह सर्वज्ञ हो, सब रहस्योंको जानता हो। कभी-कभी वह घटनाओंकी गतिमें रुकावट अवश्य डालता है, पर स्थान-स्थानपर आवश्यक प्रयोजन भी सिद्ध करता है। वह संक्षेपमें ऐसा आवश्यक विवरण देता है, जो किसी अन्य प्रकारसे नहीं दिया जा सकता, किंतु जिसका रहना अनिवार्य होता है, ताकि श्रोता घटनाक्रमको

अच्छी तरह पकड़ सके। इसका एक उदाहरण 'इन्द्रजाल' कहानीके रूपांतरसे देखिए—

बेला (दूरसे)—थकई, रात गई, अब गा तू !

कौन देशमें चकवा प्यारा गाकर उसे बुला तू !

(गीत धीमी आवाजमें पृष्ठभूमिमें चलता रहता है।)

कथाकार— उस निर्जन प्रांतमें जब अंधकार खुले आकाशके नीचे खेल रहा था, तब बेला बैठी गा रही थी। पलासके छोटे-से जंगलमें उसके गीत गूंज रहे थे। जैसे कमलके पास मधुकरको जानेसे कोई रोक नही सकता, उसी तरह गोली भी कब माननेवाला था ? आज उसके निरीह हृदयमें संघर्षके कारण आत्मविश्वास हो गया था। अपने प्रेमके लिए, अपने वास्तविक अधिकारके लिए उसमें झगड़नेकी शक्ति आ गई थी। उसका छुरा कमरमें था, बाँसुरी हाथमें—

(बाँसुरीकी ध्वनि, बेलाके गीतके साथ। क्रमशः तेज होकर फिर मंद हो जाती है।)

कथाकार—आज प्रेमके आवेशने आवरण हटा दिया था, वे नाचने लगे। आज तारोंकी क्षीण ज्योतिमें हृदयसे हृदय मिले, पूर्ण आवेगमें। आज बेलाके जीवनमें यौवनका और गोलीके हृदयमें पौरुषका प्रथम उन्मेष था।

(सहसा शांति)

गोली—आह ! कौन ?

भूरे—मैं हूँ गोली ! बच गया तू ! मेरा छुरा तुझे न लगा ! मेरी बेलाको गले लगाने चला है !

बेला— तू यहाँ क्या करने आया है ?

भूरे—चुप रह बेला !

गोली—मैं कहता हूँ भूरे, तू चला आ यहाँसे, नहीं तो तेरी जान ले लूँगा !

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि बिना नैरेशनके काम नहीं चलता। इसीके द्वारा आगेकी घटनाके लिए पृष्ठभूमि निर्मित कर दी गई है। इस संबंधमें यह ध्यान रखना है कि नैरेशन आगे घटनेवाली घटनासे अधिक जोरदार न हो जाय। उदाहरणके लिए, यदि यह नैरेशन दिया जाय, 'पलकोंमें मनहर सपने लिये हुए शकुन्तला महाराज दुष्यंतके सम्मुख गई, किंतु दुष्यंतने उसे न पहचाना' और इसके बाद दुःखिता शकुन्तलाको दिखलाया जाय, तो कहा जाएगा कि यहाँ नैरेशन कमजोर है। यहाँ राजसभामें राजाके मुखसे प्रत्याख्यानकी बात ही मार्मिक और महत्त्वपूर्ण है। उसे नैरेशनमें न कहकर प्रत्यक्ष रूपमें चित्रित करना ही उचित होगा।

नैरेशनके संबंधमें यह भी ध्यान रखनेकी बात है कि उसमें आगे या पीछे की घटनाओंकी आवृत्ति न हो जाय। इससे नैरेशनकी निरर्थकता सिद्ध होगी। एक उदाहरण देखिए—

कथाकार—सत्यप्रकाश अब युवक था। जबतक पाँव न थे, तबतक अवहेलना, निरादर, भर्त्सना, सबकुछ सहकर घरमें रहता रहा। अब हाथ-पाँव हो गये, तो बंधनमें क्यों रहता ? एक दिन वह आत्माभिमानसे प्रेरित हो चल पड़ा।

ज्ञानप्रकाश (शिशु)—कहाँ जाते हो भैया ?

सत्यप्रकाश (युवक) जाता हूँ, कहीं नौकरी करूँगा।

ज्ञानप्रकाश—मैं जाकर अम्मासे कहे देता हूँ।

सत्यप्रकाश—तो फिर मैं तुमसे छिपाकर चला जाऊँगा।

ज्ञानप्रकाश—क्यों चले जाओगे ? तुम्हें मेरी जरा भी मुहब्बत नहीं है ?

सत्यप्रकाश—तुम्हें छोड़कर जानेको जी नहीं चाहता ज्ञानू, लेकिन जिस घरमें कोई पूछनेवाला नहीं, उसमें अब नहीं रह सकूँगा। जबतक हाथ-पैर न थे, तबतक लाचारी थी।

यहाँ ज्ञानप्रकाश और सत्यप्रकाशकी बातोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि सत्यप्रकाशका घरमें कोई सम्मान नहीं था; जबतक वह शिशु था, तबतक विवश होकर घरमें रहा, पर बड़ा होनेपर घरकी अवहेलना उसके लिए असह्य हो उठी। इस प्रकार संलापमें नॅरेशनकी कोई बात छूटने नही पाती, फलतः वह निरर्थक हो जाता है।

वह नॅरेशन उचित समझा जाएगा, जो साधारण एवं गौण घटनाओंका उल्लेख कर नाटककी गतिशीलतामें सहायक होता है। श्री प्रेमचंदकी कहानी 'लैला'के रूपांतरमें एक स्थानपर नॅरेटर कहता है—'तेहरानमें घर-घर आनंदोत्सव हो रहा था। शाहजादा नादिर लैलाको ब्याहकर घर लाया था। अपने प्यारे शाहजादेकी शादीमें धन और समयका मुंह देखना किसीको गवारा न था। रईसोंने महफिलें सजाई, चिराग जलाये, बाजे बजवाये; गरीबोंने अपनी डफलियाँ सँभाली और सड़कोंपर खुशीसे उछलते फिरे। उसी दिन सध्या-समय'—यहाँ नॅरेशनमें आनंदोत्सवका उल्लेख कर दिया गया है, और आगेकी इससे अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओंके लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी गई है।

नॅरेशन स्थान-स्थानपर आवश्यक है, लेकिन यह उचित नही है कि उसका बार-बार प्रयोग कर घटनाओंकी गतिमें बाधाएँ उपस्थित की जायँ। सबसे अच्छा तो यही होता है कि नॅरेशन किसी घटनाके पूर्व ही दिया जाय। उसके-द्वारा, घटना-क्रममें किसी प्रकार विघ्न न डाला जाय।

किसी-किसी नाटकमें दो नॅरेटरोंसे काम लिया जाता है। इसमें उचित यह होता है कि दोनों नॅरेटर दो विभिन्न विचारों एवं भावनाओंका प्रतिनिधित्व करते हो अथवा दो दलोंके हों, और वे अपने-अपने पक्ष एवं दलसे संबंधित घटनाओंका ही नॅरेशन दें। उदाहरणके लिए, यदि कौरव-पांडव-युद्धका विवरण देना है, तो एक नॅरेटर कौरव-दलकी घटनाओंको बतलाये और दूसरा पांडव-दलकी। लेखक चाहे तो दो नॅरेटरोंको इस प्रकार रख सकता है कि श्रोताओंको पता न चले कि दो नॅरेटर बोल रहे हैं। इसके

लिए उपाय है कि दोनों नैरेटर उपर्युक्त दो श्रेणियोंके हों। पहला नैरेटर घटनाओंका तटस्थ दर्शक हो, और दूसरा नाटकका एक पात्र।

पद्य-नाटकोंमें नैरेटरका उपयोग एक चारणके रूपमें किया जा सकता है। प्राचीनकालमें जिस प्रकार चारण युद्ध-वर्णन करते थे, उसी प्रकार नैरेटर विभिन्न घटनाओंका विवरण दे सकते हैं तथा वास्तविक घटनाओंके लिए उचित वातावरण निर्मित कर सकते हैं।

ये तो हुई पहली श्रेणीके नैरेटरकी बातें, अब हम दूसरी श्रेणीके नैरेटरके संबंधमें विचार करें। यह द्वितीय श्रेणीका नैरेटर नाटकका एक पात्र होता है। इसीलिए कभी-कभी उसे पहचानना कठिन होता है कि वह एक नैरेटर है। ऐसे नैरेटरको हम सुविधाके लिए पात्र-नैरेटर कह सकते हैं। जीवन-चरितपर आधारित नाटकोंमें ये महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। एक उदाहरण प्रसिद्ध कलाकार माईकेल एंजिलोके जीवनपर आधारित नाटक 'रंग और रूप' से देखिए। नाटक माईकेल एंजिलोके अंतिम क्षणसे प्रारंभ होता है। एंजिलो मर रहा है, और अपनी परिचारिकासे बातें कर रहा है। इन्हीं बातोंके प्रसंगमें वह अपनी जीवन-गाथा कह जाता है—वहीं का एक छोटा-सा अंश इस प्रकार है—

एंजिलो (वृद्ध)–हाँ, आज मैं बहुत बेचैन हूँ! आज मेरी आँखोंके सामने मेरी समूची जिन्दगी नाच रही है। वे आदमी, जिनसे मेरी भेंट हुई थी, वे स्थान, जिन्हें मैंने देखे थे, वे मूर्तियाँ और चित्र, जिन्हें मैंने बनाये थे, आज सब-के-सब मेरी आँखोंके सामने तस्वीरोंकी तरह चमक रहे हैं। लगता है, जैसे इस मरनेकी घड़ीमें मैं अपनी बीती हुई जिन्दगी एक बार फिर जी रहा हूँ।

स्त्री—डाक्टरने मना किया है माईकेल, आप इतना न बोलें, शांत रहें!

एंजिलो (वृद्ध)—(हल्की हँसी) मैं शांत रहूँ!—मुझे छोड़कर सब

चले गये ! मेरे गुरु, मेरे शिक्षक लारेंजो, लारेंजो महान् !
तुमने देखा था उन्हें कभी ?

स्त्री—नहीं, मैंने तो कभी नहीं देखा था।

एंजिलो (वृद्ध)—नहीं देखा था !—कितने अच्छे थे वे ! कितने प्रेमसे उन्होंने मुझे चित्र और मूर्त्तिकलाकी शिक्षा दी थी ! उस समय मैं सोलह वर्ष का था !

(छेनी-हथौड़ीकी आवाज)

लारेंजो—क्यों माईकेल, मूर्त्ति बन गई ?

एंजिलो (किशोर)—जी हाँ, यह देखिए !

लारेंजो—(**हल्की हँसी**) अरे, तुमने तो इसके दाँत तोड़ दिये !

एंजिलो (किशोर)—आपहीने तो कहा था ?

लारेंजो—कितने भोले हो तुम ?—खैर, इससे क्या हुआ, यह टूटा हुआ दाँत भी अच्छा ही लगता है ! सचमुच तुम बड़े प्रतिभा-वाले हो, बहुत बड़े कलाकार होगे ! मैं तुम्हारे पिता लुडो-विकोसे कहूँगा कि वह तुम्हे मेरे साथ मेरे घरपर रहने दें ! मैं तुम्हें कलाओंके बारेमें बहुत-सी बातें बतलाऊँगा। रहोगे मेरे यहाँ ?

एंजिलो (किशोर)—जी हाँ !

लारेंजो—तो, मैं आज ही तुम्हारे पितासे बातें करूँगा !

(संक्षिप्त संगीत)

(छेनी-हथौड़ीकी आवाज)

लारेंजो—क्या कर रहे हो माईकेल ?

एंजिलो (किशोर)—यह, एक नई मूर्त्ति गढ़ रहा हूँ।

लारेंजो—तुम्हे हमेशा किसी-न-किसी मूर्त्तिमें लगा देखता हूँ।

एंजिलो (किशोर)—मुझे बहुत आनंद मिलता है इसमें ! और, जबसे आपके यहाँ आया हूँ, तबसे यही इच्छा होती है, कि कैसे

एक ही बारमें सब कुछ सीख लूँ। इतनी सुंदर मूर्त्तियाँ आपके बगीचेमें हैं कि मैं उन्हें देखता ही रह जाता हूँ।

लारेंजो—इसीलिए तो तुम्हें अपने यहाँ ले आया हूँ।

एंजिलो (किशोर)—कितना खुश हूँ मैं यहाँ आकर! ऐसी सुंदर कला-कृतियाँ तो मुझे कहीं भी देखनेको नहीं मिलतीं।

लारेंजो—अभी तुमने सब कुछ नहीं देखा है माईकेल! मेरे कमरोंमें बहुत-से ऐसे चित्र हैं, जो संसारमें और कहीं देखनेको नहीं मिलेंगे।

एंजिलो (किशोर)—मैं उन्हें देखूँगा कैसे?

लारेंजो—तुम्हारे-जैसे शिष्यको मैं सब कुछ दिखला दूँगा। ये लो कुंजियाँ, मेरे सभी कमरोंकी कुंजियाँ हैं, उन्हें खोलकर जो कुछ देखना चाहो, देखना, और उनकी कलाको ध्यानसे समझने की कोशिश करना!

एंजिलो (किशोर)—कितने अच्छे हैं आप!

(पृष्ठभूमिमें शोक-संगीत)

लारेंजो—(**रुँधा स्वर**) मैं जा रहा हूँ माईकेल!

एंजिलो (किशोर)—नहीं गुरुदेव, अभी आपसे मुझे बहुत कुछ सीखना है।

लारेंजो—तुम खुद सब कुछ सीख लोगे माईकेल! मुझे तुम्हारी प्रतिभा पर विश्वास है।

एंजिलो (किशोर)—अब मुझे इतने प्रेमसे कौन सिखलाएगा!

लारेंजो—अधीर न हो माईकेल! मेरी आखिरी घड़ी इतनी जल्दी आ पहुँची! मुझे दुःख है कि तुम यहाँ दो-तीन ही साल रह सके!

एंजिलो (किशोर)—लेकिन मैं अब क्या करूँगा!

लारेंजो—जो काम तुम कर रहे हो, करते जाना। मुझे विश्वास है कि तुम इसमें सफल होगे, तुम संसारके सबसे बड़े कलाकार होगे ! अच्छा, एंजिलो ! मैं चला ! आह !

(शोक-संगीत तेज होकर फिर मंद हो जाता है।)

एंजिलो (वृद्ध)—(हल्की हँसी)

स्त्री—क्या है माईकेल एंजिलो ? आप इस तरह क्यों हँस रहे हैं ?

एंजिलो (वृद्ध)—अपनी बीती हुई जिन्दगीको एक बार फिर देख रहा हूँ। कैसे सबलोग मुझे छोड़-छोड़कर चले गये ! मेरे शिक्षक लारेंजो महान् मुझे अकेला छोड़कर चले गये, और मुझे फिर अपने पिताके घर लौट जाना पड़ा !

(और इसी तरह एंजिलो अपनी आत्म-कथा कहता जाता है।)

आपने देखा कि यहाँ नैरेटर स्वयं वृद्ध एंजिलो है, वही अपने जीवनकी घटनाओंका उल्लेख करता है, और विभिन्न दृश्य उसकी आँखोंके सामने आते जाते हैं। नैरेटरके इस छद्म रूपको पहचान लेना श्रोताके लिए कठिन है। ऐसे पात्र-नैरेटरोंकी सृष्टिमें यही लाभ है। अगर कोई नाटक किसीकी आत्म-कथाके आधारपर लिखना हो, तो उसमें उस व्यक्ति-विशेषकी शब्दावलियोंका भी उपयोग किया जा सकता है। ऊपरके उद्धरणमें यह भी ध्यान देनेकी बात है कि छोटे-छोटे तीन विभिन्न दृश्योंके बीच-बीचमें नैरेशन नहीं दिया गया। इस प्रकार नैरेशनका कम-से-कम व्यवहार हुआ है—वह भी दृश्योंके प्रारंभ या अंतमें।

पात्र-नैरेटरोंकी उपयोगिता स्पष्ट है, लेकिन सब जगह इनका नियोजन करना कठिन ही नहीं, असंभव है। हाँ, किसी दृश्यको हम पात्रविशेषकी आँखोंसे देख सकते हैं, अथवा सोच सकते हैं कि वह अपेक्षित प्रसंगके बारेमें पूरी जानकारी रखता है। विशेषता उसको नाटकमें इस प्रकार रखनेमें है कि वह तटस्थ दर्शक ही नहीं, घटनाओंमें भाग लेनेवाला भी हो। 'अहिंसाकी मूर्त्ति'से एक छोटा उदाहरण दिया जा रहा है। इसमें कल्पना की

गई है कि स्वर्ग-लोकमें महात्मा गांधीकी दूसरी वर्ष-गाँठ मनाई जा रही है। स्वर्ग-लोकके नर-नारी उत्सवके आयोजनमें संलग्न हैं। उसी समय चंद्रलोकका एक मनुष्य वहाँ आ पहुँचता है। उसकी भेंट स्वर्ग-लोककी एक नारी लेखासे हो जाती है। वहाँका संलाप इस प्रकार है—

लेखा—(**वीणा-वादन**)

पुरुष—(**कुछ दूरसे**) देवि ! देवि!

लेखा—कौन ?—आपने मुझे पुकारा ?

पुरुष—हाँ देवि, मैं इस लोकके लिए अपरिचित हूँ। क्या आप एक बात बतलाएँगी ?

लेखा—स्वर्ग-लोकमें किसीसे कुछ पूछनेमें आपको संकोच न होना चाहिए। कहिए, आप क्या जानना चाहते हैं ?

पुरुष—मैं देख रहा हूँ, इस लोकके प्राणी आज स्थान-स्थानपर उत्सव का आयोजन कर रहे है, पत्र-पुष्पोंसे घर-द्वार सजा रहे हैं ! आज कोई त्योहार है क्या ?

लेखा—नहीं-नही, त्योहार तो कल है। कल संध्या समय महात्मा गाँधीजीकी दूसरी वर्ष-गाँठ मनाई जाएगी। वे कलके ही दिन हमारे लोकमें आये थे।

पुरुष—और आज ?

लेखा—उसी उत्सवकी तैयारी हो रही है।

पुरुष—लेकिन ये महात्मा गाँधी है कौन ?

लेखा—(**आश्चर्यसे**) आप महात्मा गाँधीको नहीं जानते ?

पुरुष—जी नहीं, मैं आज ही चंद्रलोकसे आ रहा हूँ।

लेखा—इसीलिए आप नहीं जानते। पृथ्वीपर तो कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो महात्मा गाँधीको न जानता हो।

पुरुष—क्या आप मुझे उनका परिचय देंगी ?

लेखा—अवश्य ! इतनी महान् आत्मा स्वर्ग-लोकमें कभी-कभी ही आती है। महात्मा गाँधी सत्यके साक्षात् अवतार हैं, त्याग

और तपस्याके दूत हैं, प्रेम और करुणाके प्रचारक हैं, अहिंसाकी मूर्त्ति हैं।

और, इस प्रकार लेखा महात्मा गाँधीका जीवन-परिचय देना शुरू करती है। वह भी एक प्रकारसे पात्र-नैरेटर ही है। चूँकि यह नाटक बच्चों-के कार्यक्रमके लिए लिखा गया था, नाटकमें बच्चोंकी अभिज्ञताका प्रति-निधित्व करनेवाला कोई पात्र होना चाहिए था। इसीलिए पुरुषको महात्मा गाँधीके जीवनसे पूर्णतः अभिज्ञ रखा गया है।

इसी प्रकारसे नैरेटर विभिन्न नाटकोंमें विभिन्न रूप धारण करके आता है। छद्म-वेषमें रहनेपर वह कुछ नवीन-जैसा लगता है। 'उत्तरा और द्रौपदी' नाटकमें मैंने इतिहासको नैरेटर बनाया था। प्रारंभकी कुछ पंक्तियाँ इस तरह हैं—

(पुस्तकके पन्ने उलटनेकी आवाज)

नारी—इतिहास! —इतिहास!

इतिहास—कौन हो तुम?

नारी—मैं हूँ नारी।

इतिहास—क्या चाहिए तुम्हें?

नारी—मैं तुमसे कुछ सुनने आयी हूँ इतिहास! तुम अनंत कालसे संसारकी गाथा लिखते आ रहे हो। तुमने जीवनके अनेक उत्थान-पतन देखे हैं, ध्वंस और निर्माण देखे हैं। क्या तुम मेरी गौरव-गाथा सुनाओगे?

इतिहास—गौरव-गाथा सुनोगी?

नारी—हाँ इतिहास, मैं अपने अतीतके गौरवपूर्ण जीवनसे प्रेरणा ग्रहण करना चाहती हूँ, जिससे भविष्यका सुंदर निर्माण कर सकूँ।

इसके बाद इतिहास नारीकी गौरव-गाथा सुनाता है। वह स्पष्ट ही एक नैरेटर है, पर उसका नाम बदला हुआ है। ऐसे नैरेटरोंमें सामान्य नैरेटरो (स्त्री-स्वर, पुरुष-स्वर, वाचक, वाचिका आदि) की अपेक्षा अधिक मनोरंजकता होती है।

अब हम नैरेशनकी भाषा-शैलीके बारेमें विचार करें। नैरेशनकी समूची शक्ति उसकी भाषा-शैलीपर ही निर्भर है। इसके लिए सबसे पहले तो हमें यह याद रखना चाहिए कि रेडियोके नैरेशन और कहानी-उपन्यासोंके नैरेशन (कथा-लेखक जो कुछ अपनी ओरसे कहता है, वह नैरेशन ही तो है) में काफ़ी अंतर है। कहानी-उपन्यास पढ़नेके लिए लिखे जाते हैं, रेडियो-नैरेशन सुननेके लिए। और, जैसा कि हम देख चुके हैं, पढ़ने और सुननेकी चीज़ोंमें बहुत अंतर है। मन-ही-मन किसी उद्धरणको हम सरलतासे पढ़ सकते हैं, पर उसे बोलकर सुनानेमें कठिनाई हो सकती है। इसलिए शब्दोंका संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि अभिनेताओंको उन्हें बोलनेमें कठिनाईका अनुभव न हो। उदाहरणके लिए यदि किसीको कहना पड़े—'यह बात तो पहलेसे कही ही हुई है', तो वह अंतिम चार शब्दोंको सरलतासे नहीं कह सकेगा। यद्यपि यहाँ कोई कठिन शब्द नहीं है, पर शब्दोंका संयोजन ठीक ढंगसे नहीं हुआ है।

अभिनेता किसी नैरेशनको सरलतासे पढ़ सके, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि विराम आदि चिह्नोंपर पूरा ध्यान रखा जाय, वाक्य सरल हों और उनमें ऐसे स्थल हों, जहाँ अभिनेता तनिक रुककर साँस ले सकें।

इसी प्रकार वाक्योंके संयोजनपर भी ध्यान देना चाहिए। वाक्योंका संगठन इस प्रकारका होना चाहिए कि उनका अर्थ एक बार सुननेपर समझमें आ जाय। चूँकि श्रोता पाठककी तरह किसी पुस्तकके पिछले पृष्ठोंको फिरसे नहीं देख सकता, किसी बातको दुहराकर नहीं सुन सकता, यह ज़रूरी है कि रेडियो-लेखक वाक्योंके संगठनपर ध्यान दे। इस दृष्टिसे सरल वाक्योंका बड़ा महत्त्व है। श्रोताओंकी सुविधाकी दृष्टिसे अनेकार्थ शब्दोंसे भी बचना ज़रूरी है। अनेकार्थ शब्दोंके प्रयोगसे अर्थ समझनेमें कुछ कठिनाई हो सकती है। उद्धरण-चिह्नोंका प्रयोग भी अर्थ समझनेमें बाधक होता है।

एक प्रश्न अवश्य है कि नैरेशनके वाक्य कितने बड़े-बड़े हों? यह वातावरणपर निर्भर है। भावोंके अनुरूप वाक्य बड़े और छोटे सब

प्रकारके हो सकते हैं। जैसे, कहीं करुणाका वातावरण है, तो वहाँ वाक्य मंद गतिसे चलनेवाले कुछ लंबे-लंबे हो सकते हैं, पर जहाँ युद्ध, शक्ति और प्रगतिकी व्यंजना करनी है, वहाँ नैरेशन बहुत छोटे-छोटे होंगे, वाक्य भी छोटे और तेज गतिसे चलनेवाले होंगे। उदाहरण 'रेडियो-रूपक' अध्यायमें दी गई 'अहिंसाकी मूर्त्ति' से उद्धृत अंशमें देखा जा सकता है। वहाँ घटनाओंमें गति है, इसलिए वहाँके नैरेशन और वाक्य बहुत छोटे-छोटे हैं।

वाक्य छोटे-छोटे ही हों, यह कोई आवश्यक नहीं, लेकिन इस बातपर ध्यान देना आवश्यक है कि नैरेशनमें भाषाकी सजावटके लिए स्थान नहीं है। हमें कम-से-कम शब्दोंमें अपनी बातें कहनी हैं। यदि हम अलकृत भाषा लिखकर श्रोताओंके मनको मुग्ध करना चाहते हैं, तो यह हमारी भूल है। ऐसा करके हम आगे और पीछेकी घटनाओंकी गतिमें बाधा उपस्थित करते हैं। एक उदाहरण द्वारा बात आसानीसे समझी जा सकेगी —

(**पृष्ठभूमिमें शोक-संगीत**)

आदित्य—(**रुक-रुककर, धीरे-धीरे**) अब मुझे सन्तोष हो गया करुणा ! इस बच्चेकी ओरसे अब मुझे कोई शंका नहीं है। मैं इसे कुशल हाथोंमें छोड़ रहा हूँ (**खाँसी**) अब मैं सुखसे मर सकता हूँ ! आह ! (**खाँसी**) आह !

करुणा—नाथ !

आदित्य—क-रु-णा (**खाँसी समाप्त**)

(**शोक-संगीत तेज होकर समाप्त हो जाता है**)

नैरेटर—सात वर्ष बीत गये।

स्त्री—बहनजी, कुछ दूध मुझे दीजिएगा ?

करुणा—तुम्हारी ही चीज तो है, खुशीसे ले जाना।

यहाँ नरेशन केवल एक पंक्तिका है। इसी नाटकमें यह नैरेटर अगली बार कहता है—'कुछ वर्ष और बीत गये। प्रकाश कालेजमें पहुँच गया।' इन स्थलोंपर भाषा-सौंदर्य दिखलानेके लिए अवकाश नहीं है। मान

लीजिए, कोई कहे—'समय रुकता नहीं, बढ़ता जाता है। प्रहर दिन और रातमें बदल जाते हैं, दिन और रात महीने बन जाते हैं, और महीने "वर्ष" की छोटी संज्ञामें सिमट जाते हैं। इसी तरह सात वर्ष बीत गये।' इसके साथ ही नैरेशनमें यह भी कहा जा सकता था कि समय किस प्रकार दुःख को भूल जानेमें सहायक होता है, किस प्रकार समयके साथ मनुष्यकी मनोवृत्तियाँ बदल जाती हैं, और किस प्रकार ये बातें करुणाके जीवनके लिए भी सत्य सिद्ध हुई। लेकिन इन बड़े नैरेशनोंका कोई उपयोग नहीं। ये केवल घटनाओंकी गतिमें विघ्न ही उत्पन्न करते हैं। जहाँ एक पंक्ति ही लिखनेसे काम हो जाय, वहाँ अनेक पंक्तियाँ लिखना शब्दोंका अपव्यय करना होगा। लियोनेल गैमलिन के शब्दोंमें—'The art of writing a good radio script, indeed, often lies in knowing what *not* to say. There is no room for any phrase, even in the lightest conversational passage, which does not play an active part in the forward march of the programme. Words in the radio have to work their passage, and one has ofter got to do the office of three or four. There is certainly no room for the merely decorative.' ये बातें केवल नैरेशनके लिए ही नहीं, बल्कि सलापोंके लिए भी सही है।

ध्वनि-प्रभाव

ध्वनि-प्रभावका तात्पर्य हास्य, रुदन, वर्षा, बादल, रथ, टेलीफोन, रेलगाडी, मोटर, बंदूक, मशीनगन आदिकी ध्वनियोंसे है, जिनका व्यवहार रेडियो-नाटक प्रसारित करते समय किया जाता है। प्रत्येक रेडियो-स्टेशनमें ऐसे ध्वनि-प्रभावोंके रिकार्ड रखे जाते हैं। कुछ ध्वनि-प्रभाव प्रसरणके समय स्टूडियोंमें ही उत्पन्न किये जाते हैं। नाटक-लेखकका इन बातोंसे कोई विशेष संबंध नहीं। उसे केवल उचित स्थलपर उचित ध्वनि-

प्रभावका निर्देश कर देना पड़ता है। हाँ, उसे इस बातपर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि असंभव ध्वनि-प्रभावोंका प्रयोग न हो जाय।

परिपार्श्व-निर्माणमें ध्वनि-प्रभावोंसे बहुत सहायता मिलती है। रंग-मंच-नाटकोंमें यवनिकापर अंकित दृश्यादि परिपार्श्वका काम करते हैं, पर रेडियो-नाटकमें वैसा कोई परिपार्श्व नहीं होता। रेडियो-नाटकमें ध्वनि-प्रभाव ही यह काम करते हैं। उनसे दृश्योंमें एक प्रकारकी घनता आती है, जिससे ज्ञात होता है कि पात्रोंका अभिनय शून्यमें न होकर एक ठोस पृष्ठभूमिपर हो रहा है।

वातावरण-निर्माणके लिए ध्वनि-प्रभावोंका बड़ा महत्त्व है। रेडियो-नाटकमें आँखोंके सामने कोई प्रत्यक्ष चित्र नहीं आता, केवल ध्वनियों और शब्दोंके द्वारा मानस-चित्र बनते हैं। इस चित्र-निर्माणमें नाटककारकी चित्र-प्रधान शब्द एवं ध्वनि-योजना तो काम करती ही है, श्रोताकी कल्पना-शक्तिको भी श्रम करना पड़ता है। रंगमंच तथा फिल्म-नाटक वातावरण एवं परिस्थितिका पूर्ण चित्र स्वतः खींच देते हैं, दर्शककी कल्पना-शक्तिको स्वयं कोई चित्र-निर्माण नहीं करना पड़ता। लेकिन रेडियो-नाटक श्रोताकी भावना एवं कल्पना-शक्तिको उत्तेजित करता है। यहाँ केवल टेलीफोनकी घंटी बजती है, कागजकी खड़खड़ाहट होती है, और आफ़िसका एक चित्र श्रोताके मानस-पटपर खिंच जाता है। इसीलिए रेडियो-नाटककी कलाको संकेतकी कला कहा जाता है। किसी ध्वनि-प्रभावके संकेत मात्रसे उचित वातावरणका निर्माण हो जाता है। विभिन्न अध्यायोंमें दिये गये उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जाएगी। ध्वनियोंके प्रयोगसे घटनाओंकी गतिशीलता किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है, इसका उदाहरण 'रेडियो-रूपक'के प्रसंगमें 'अहिंसाकी मूर्ति' नाटकसे दिया गया है।

अनेक स्थलोंपर ध्वनि-प्रभाव अपनेमें पूर्ण एवं स्पष्ट नहीं होते। जैसे, गिलासमें पानी डालनेकी आवाज सुनाई देनेपर भी यह नहीं मालूम होता कि यह पानी है, शराब है अथवा दवा है। इसी प्रकार ध्वनिसे दिशा

भी नहीं सूचित होती। किसी मोटरकी आवाज सुनाई पड़नेपर भी यह ज्ञात नहीं होता कि वह किस दिशासे आ रही है। आवश्यक होनेपर संलापमें उसका निर्देश करना पड़ता है।

ध्वनि-प्रभावोंके संबंधमें सबसे पहली बात यह है कि उनका व्यवहार कम-से-कम किया जाय। जैसा ऊपर कहा गया, रेडियो-नाटककी कला संकेतकी कला है। इसलिए उसमें केवल संकेत ही देना चाहिए, पूर्ण विवरण देनेका प्रयत्न करना उचित नहीं। नाटककारकी कुशलता कम-से-कम, किन्तु प्रभावशाली ध्वनि-प्रभावके चुनावमें है। किसी आफ़िसके वातावरण-निर्माणके संबंधमें ऊपर एक निर्देश हुआ है।

एक ही ध्वनि-प्रभावका बार-बार व्यवहार करना श्रोताओंके लिए बहुत अरुचिकर होगा। जितनी बार कोई पात्र घटनास्थलपर जाए और वहांसे लौटे, उतनी बार उसके पैरोंकी आवाज और दरवाजोंको खोलने-बंद करनेकी ध्वनि अच्छी नहीं लगेगी। ऐसे ध्वनि-प्रभाव प्रभावशाली नहीं हो सकेंगे। इसीलिए कहा जाता है कि ध्वनि-प्रभावोंका व्यवहार कम-से-कम किया जाय। फेलिक्स फेल्टनका कहना उचित ही है कि ध्वनि-प्रभाव जितने कम रहेंगे, उतने ही अधिक प्रभावोत्पादक होंगे। स्वयं उसके शब्दोंमें, 'Effects should be effective; and the less they are used, the more effective they are'.

यदि किसी स्थलपर अनेक ध्वनि-प्रभावोंको काममें लाना अनिवार्य हो, तो एक-एक ध्वनि-प्रभावका बारी-बारीसे व्यवहार करना चाहिए। एक ही बार कई ध्वनि-प्रभावोंको काममें लानेसे कोलाहल मच जाएगा और उससे कोई निश्चित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

कुछ लोग समझते हैं कि चूंकि ध्वनि-प्रभाव केवल रेडियो-नाटकोंमें ही होते हैं, वे रेडियो-नाटककी अपनी चीज हैं और उनका अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाना चाहिए। फल यह होता है कि कुछ नाटक केवल ध्वनि-प्रभावोंके लिए ही लिखे जाते हैं। यह उचित नहीं है। ध्वनि-प्रभाव तो

केवल साधन है, साध्य है नाटक-द्वारा श्रोताओंको प्रभावित करना। इसीलिए ध्वनि-प्रभावोंका व्यवहार वहीं तक होना चाहिए, जहाँ तक वे रेडियो-नाटकके प्रभावमें सहायक हो सकें।

कुछ रेडियो-स्टेशनोंमें किसी एक नाटकके लिए जो ध्वनि-प्रभाव बन गये, दूसरे नाटकोंमें उन्हींका बार-बार उपयोग किया जाता है। श्रोताओंके लिए वैसे ध्वनि-प्रभाव नवीन एवं प्रभावोत्पादक नहीं रह जाते। होना यह चाहिए कि विशेष नाटकोंके लिए विशेष ध्वनि-प्रभावोंका ही उपयोग हो।

लुई मैकनीसके अनुसार, ध्वनि-प्रभावोंके संबंधमें, अंतमें, यही कहा जा सकता है कि इनका व्यवहार तभी करना चाहिए, जब ये नाटकको प्रभावोत्पादक बना सकें और व्यावहारिक हों—'In general, a radio writer should only ask for effects when they are (a) practicable, (b) an asset to his story. They must not be overused or indulged in for their own sake'.

संगीत

संगीतसे तात्पर्य वाद्य-संगीतसे है। यह प्राचीन कालसे ही नाट्य-कला का एक आवश्यक अंग रहा है। संगीत स्वयं एक ललित कला है, और इसके प्रभावकी तीव्रता सभी कलाओंसे अधिक है, इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। रेडियो-नाटकका तो यह एक प्रमुख अंग है।

रेडियो-नाटकमें संगीतका व्यवहार दो प्रकारसे किया जाता है—(१) स्वतंत्र रूपसे और (२) संलापकी पृष्ठभूमिके रूपमें।

संगीतका स्वतंत्र रूपसे व्यवहार नाटकके प्रारंभ और अंतमें होता है। नाटकके प्रारंभमें आनेवाला संगीत नाटककी भावात्मक विषय-वस्तु (theme) का प्रतीक होता है, और वह आगेकी घटनाओंके लिए वातावरण निर्मित करता है। प्रारंभका आकर्षक संगीत नाटकके प्रति श्रोताओं-

की उत्सुकता जगा सकता है। अंतका संगीत नाटककी समाप्तिकी सूचना देता है। उससे नाटककी पूर्णताका बोध होता है। संगीतके द्वारा दृश्य-परिवर्त्तन किया जा सकता है। रंगमंचपर दृश्य-परिवर्त्तनके लिए पर्दे होते हैं, पर रेडियो-नाटकमें दृश्यके अंतमें संगीत दे दिया जाता है, और दृश्य परिवर्त्तित हो जाता है। फिर कथनोपकथन तथा ध्वनि-प्रभावके द्वारा नया दृश्य उपस्थित किया जाता है। दृश्य-परिवर्त्तनके लिए रेडियो-नाटकमें एक और उपकरण है—शांति। दो दृश्योंके बीचमें कुछ सेकेंडोंके लिए शांति रहने दी जाती है, जिससे दृश्य परिवर्त्तित समझा जाता है।

एक दूसरे प्रयोजनके लिए भी संगीतका स्वतंत्र रूपसे व्यवहार किया जाता है। वह है घटनाओंकी शृंखलाएँ जोड़ना और गति सूचित करना। अगर दृश्य कहीं बडी शीघ्रतासे बदलते हों, तो वाद्य-संगीत-द्वारा इसकी व्यंजना की जा सकती है। 'कहानियोंके रेडियो-रूपांतर'के प्रसगमें इस तरह का एक उदाहरण 'गोटेकी टोपी'के रूपांतरसे उद्धृत अंशमें आया है। संगीत-द्वारा गति किस प्रकार सूचित की जाती है, इसका उदाहरण 'वे अभी भी क्वाँरी हैं'के प्रारंभिक अशमे देखिए।

दृश्य-परिवर्त्तनका संगीत बहुत संक्षिप्त होना चाहिए, जिससे नाटककी गतिमे किसी प्रकारकी बाधा न उपस्थित हो। साथ ही नाटक तथा उसके दृश्योंमे अभिव्यक्त भावनाओके साथ उसका पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए।

स्थान-स्थानपर प्रतीकात्मक संगीतका भी उपयोग किया जा सकता है। प्रतीकात्मक सगीतसे तात्पर्य है उस संगीतसे, जो किसी विशेष भावना, विशेष व्यक्ति अथवा विशेष स्थानको सूचित कर सके। 'नोआखाली-यात्रा' काव्य-रूपकमें 'रघुपति राघव राजा राम'की धुन-द्वारा विभिन्न स्थानोंपर महात्मा गाँधीकी उपस्थिति सूचित की गई थी।

पृष्ठभूमि संगीतसे अनेक प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं। संगीतमें भावोद्दीपनकी अद्भुत शक्ति है। संलापके पीछे भावानुरूप संगीतकी योजना करके सलापके प्रभावको तीव्र बनाया जा सकता है। पर उचित स्थल-

पर उचित संगीतके व्यवहार-द्वारा ही यह कार्य संभव है। करुण-स्थलपर करुणा-व्यंजक संगीत ही प्रभावोत्पादक होगा। भावोद्दीपनके साथ-साथ भाव-परिवर्त्तनका काम भी संगीतके-द्वारा किया जाता है। अगर पात्रके हृदयमें एक भावके बाद दूसरे प्रकारका भाव आ रहा हो, तो संगीतके प्रकार-में परिवर्त्तन करके इसे व्यंजित किया जा सकता है। यदि किसी पात्रके मनमें दो भावनाओंका संघर्ष चल रहा हो, तो संगीत-द्वारा इसे सूचित किया जा सकता है।

ध्वनि-प्रभावकी भाँति वातावरण-निर्माणके लिए भी संगीतका उपयोग होता है। यदि कोई आनंदपूर्ण प्रसंग चल रहा हो, प्राकृतिक सौंदर्यका दृश्य उपस्थित किया जा रहा हो, तो पृष्ठभूमि-संगीत उचित वातावरण का निर्माणकर उन प्रसंगोंको सजीव बना देता है।

पृष्ठभूमि-संगीत-द्वारा वातावरणका निर्माण तो होता ही है, नीरस प्रसंगोंको सरस बनाया जा सकता है। इसका एक उदाहरण 'मिथिला' रूपकसे देखिए—

(पृष्ठभूमिमें शास्त्रीय वाद्य-संगीत)

पुरुष—मिथिला गीतोंका देश है।

स्त्री—लोग कहते भी हैं—'तिरहुति गीत बड़ए अनुराग।'

पुरुष—संगीतकी साधनामें मिथिलाकी संगीत-प्रिय जनताके हृदयका स्पंदन है।

स्त्री—उसमें स्त्रियोंने योग दिया है।

पुरुष—पुरुषोंने भी।

स्त्री—हिंदुओंने भी स्वर-संधान किया है।

पुरुष—मुसलमानोंने भी।

स्त्री—दोनों मिलकर संगीतकी साधना करते आ रहे हैं।

(शास्त्रीयसंगीत तेज होकर धीरे-धीरे मंद हो जाता है, तब धीरे-धीरे लोकगीतकी धुन प्रारंभ होती है, जो पृष्ठभूमिमें चलती रहती है।)

पुरुष—परंपरासे आती हुई लोकगीतोंकी मधुर रागिनी भी उसके मनको प्रमुदित करती रहती है।

स्त्री—गीतोंकी यह धारा निश्छल मानव-हृदयसे निकलकर युगोंसे मिथिलाकी धरतीपर प्रवाहित हो रही है।

पुरुष—मिथिलाके इन लोकगीतोंमें बड़ी मार्मिकता है।

स्त्री—इनमें जीवनकी सब प्रकारकी भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। इनकी रागिनीमें आँखोंके आँसू मुस्काते हैं, इनकी तानोंमें आनंदकी गूँज सुनाई पड़ती है।

और, इस प्रकार संगीतकी पृष्ठभूमिपर नैरेशन चलता रहता है।

भावादेश और भावावेशके कार्योंकी व्यंजना पृष्ठभूमि-संगीत-द्वारा बड़ी अच्छी तरह होती है। उदाहरणके लिए, यदि कोई भावावेशमें किसीको खोज रहा हो, दौड़ता हो, रुक जाता हो, फिर दौड़ता हो, तो इन सभी कार्योंको संगीत सूचित कर सकता है। इससे गतिकी अभिव्यक्ति तो होती ही है, पात्रोंकी मनोदशाका भी परिचय मिलता है।

कभी-कभी ध्वनि-प्रभावोंके साथ पृष्ठभूमि-संगीतकी योजना करके तीव्र प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। युद्ध अथवा आँधी-तूफानके ध्वनि-प्रभावोंके साथ उन्हें प्रभावशाली बनानेवाला संगीत भी दिया जाता है।

जो नाटक किसी संगीतज्ञके जीवनपर आधारित होते हैं, उनके लिए तो संगीत एक अनिवार्य अंग हो जाता है। पर वैसे नाटकोंमें संगीतकी सीमा पर ध्यान देना चाहिए; नाटकपर संगीत इस प्रकार न छा जाय कि समूची नाटकीयता ही समाप्त हो जाय।

संगीतके व्यवहारसे ऐतिहासिक कालकी भी सूचना मिलती है। प्रत्येक युगका अपना विशेष संगीत होता है। आधुनिक युद्ध-संगीत प्राचीन युद्ध-संगीतसे सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार संगीत-द्वारा विशेष ऐतिहासिक कालका संकेत किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त संगीत और कौन-से प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, यह हम 'रेडियो-नाटक : सीमाएँ और संभावनाएँ' शीर्षक अध्यायके अंतर्गत देख चुके हैं।

संगीतकी योजना तो प्रस्तुतकर्त्ता (Producers) ही करते हैं, लेखक केवल संगीतके स्थलका निर्देश करता है। हाँ, लेखकको नाटक लिखते समय अपनी कल्पना और अनुभवके बलपर यह सोच लेना चाहिए कि संगीत कहाँ अनिवार्य और प्रभावशाली होगा। संगीतके-द्वारा वह जो प्रयोजन सिद्ध करना चाहता हो, उसका उल्लेख उसे उचित स्थानपर कर देना चाहिए।

संगीत रेडियो-नाटकका बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है, पर इसका उपयोग बहुत सोच-समझकर और उचित स्थलोंपर ही होना चाहिए। लुई मैकनीस-ने ध्वनि-प्रभावकी ही तरह संगीतके विषयमें कहा है कि जहाँ तक संगीत नाटकके प्रयोजनको सिद्ध कर सके, वहीं तक उसका उपयोग होना चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि वही प्रधान हो जाय, और नाटकको संगीत-सम्मेलनमें बदल दे। स्वयं उसके शब्दोंमें—'The music, though much more conspicuous, must still be strictly functional, subordinated to the dramatic purpose of the whole; the music must not attempt to usurp the primary role and turn the whole thing into a concert.'

रेडियो-नाटकके प्रकार

रेडियोसे प्रसारित होनेवाले नाटक अनेक प्रकारके होते हैं। विषय-वस्तुके अनुसार तो उनके भेदोंकी संख्या अगणित हो जाएगी, जिनसे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। शिल्पकी दृष्टिसे विचार करें, तो रेडियो-नाटकके सात भेद हमारे सामने आएँगे—

१–नाटक, २–रूपक, ३–रूपांतर, ४–फैंटेसी, ५–मोनोलॉग, ६–संगीत-रूपक, और ७–झलकियाँ।

रेडियो-नाटकके ये सभी रूप गद्यमें भी होते हैं, पद्यमें भी। कुछ नाटकोंमें गद्य और पद्य दोनोंका सम्मिलित उपयोग किया जाता है। इन सभी रूपोंपर अलग-अलग विचार करना उचित होगा।

रेडियो-नाटक

'रेडियो-नाटक' शीर्षक तो बहुत व्यापक है। इसके अंतर्गत, जैसा अभी ऊपर कहा गया, रेडियो-नाटकके सभी प्रकार चले आते हैं, लेकिन यहाँ हम केवल उन्हीं रचनाओंके संबंधमें विचार करेंगे, जिन्हें 'रेडियो-रूपक', 'रेडियो-फैंटेसी' आदि नाम न देकर 'रेडियो-नाटक' ही कहा जाता है। रूपक, फैंटेसी आदिकी विशेषताएँ समझ लेनेके बाद स्वतः ज्ञात हो जाएगा कि 'रेडियो-नाटक'से क्या तात्पर्य है। ऐसे नाटक रंगमंचके नाटकोंसे बहुत समानता रखते हुए भी मात्र श्रव्य होते हैं। यह संभव है कि इस संबंध-में जो बातें कही जायँ, वे रेडियो-नाटकके दूसरे प्रकारोंके लिए भी सही हों।

सबसे पहले हम रेडियो-नाटककी विषय-वस्तुके संबंधमें विचार करेंगे। पहला प्रश्न जो किसी नाटककारके मनमें उठता है, वह यह कि वह अपने नाटकमें क्या लिखे, किस विषयपर लिखे; कैसे लिखे, यह तो बादका

प्रश्न है। इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि रेडियो-नाटककारके लिए विषयका कोई बंधन नहीं है, वह मानव-जीवन और जगत्से सबंधित किसी भी विषयको अपने नाटकका आधार बना सकता है; फिर भी उसे कुछ बातोंपर अवश्य ध्यान देना पड़ेगा। पहली बात तो उसे यह समझनी होगी कि रेडियो-नाटक विभिन्न रुचियोंके लोग सुनते हैं। यदि रंगमंचपर कोई धार्मिक लीला हो रही है, तो उसे देखने केवल धार्मिक प्रवृत्तिके ही लोग जाएँगे, लेकिन रेडियो-नाटक सुननेवाले व्यक्ति घर बैठे ही नाटक सुनते हैं, और यदि नाटक उनकी रुचिके अनुकूल न हुआ, तो वे रेडियो-सेट शीघ्र ही बंद कर देंगे। अतः यदि रेडियो-नाटककार चाहता है कि अधिक-से-अधिक व्यक्ति उसका नाटक सुनें, तो उसे अपनी विषय-वस्तु ऐसी रखनी पड़ेगी, जो विश्वजनीन हो, जो किसी दल, जाति, धर्म आदिके सीमित बंधनोंमें ही न घिरी हो। यदि वह मूल मानवीय राग-विरागोंको अपने नाटकका विषय बनाये, तो वह सफल हो सकता है। उदाहरणके लिए, यदि वह दिखलाये कि किस प्रकार मनुष्यके हृदयमें कर्तव्य और भावनाका संघर्ष होता है, किस प्रकार मनुष्यके हृदयमें प्रेम, घृणा, ईर्ष्या आदिकी भावनाएँ उठती हैं, तो वह अपने नाटकको अधिक-से-अधिक व्यक्तियों तक पहुँचा सकेगा। इसके लिए वह अपनी कथा इतिहास, पुराण अथवा वर्तमान सामाजिक जीवन, कहींसे ले सकता है।

इसके अतिरिक्त रेडियो-नाटककार उन समस्याओंको भी अपना विषय बना सकता है, जिनमें अधिक लोगोंकी दिलचस्पी है। युद्ध, वर्त्तमान सामाजिक कुरीतियों आदिपर भी बड़े सुंदर नाटक लिखे जा सकते हैं, लेकिन यहाँ भी यह याद रखना होगा कि ऐसे नाटकोंमें भी जबतक मनुष्यके राग-विरागोंका अंकन न होगा, तबतक वे लोगोंके मर्मको न छू सकेंगे। मनुष्यके राग-विरागोंकी सूक्ष्म तरंगोंको पकड़ना कविका ही काम है। इसीलिए लुई मैकनीसने कहा है कि रेडियो-नाटक लिखनेके लिए कविकी दृष्टि चाहिए—'For man, we should always

remember, is born poetic......Poetry, in this sense at least, is more primitive than prose; it was easier on the ear and less strain upon the mind. That is why radio drama—not because the medium is new but because of its primitive audience—might reasonally be expected to demand a poet's approach. And poets on the whole do seem more at home on the air than novelists, say, or essayists.'

मानवीय अनुभूतियाँ और मानवीय भावनाएँ ही नाटककी विषय-वस्तु बनाई जायँ, पर नाटकमें उन्हें इस प्रकार रखा जाय कि वह कुछ असाधारण-सा लगे। हम जानते हैं कि जिन विषयोंसे हम बहुत अधिक परिचित हो जाते हैं, उनकी नवीनता समाप्त हो जाती है, फलतः वे हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं करतीं। यही बात नाटकके विषयोंके साथ भी है। हम प्रतिपल कोई नई चीज चाहते हैं। जो नाटक हमारी इस आकांक्षाको तृप्त करेगा, वही सफल होगा। इसके लिए आवश्यक है कि नाटककार सामान्य विषय-वस्तुको भी असामान्य परिस्थितियोंमें रखकर उपस्थित करे।

चूँकि हम लोगोंके यहाँ जो नाटक लिखे जाएँगे, उनका उपयोग ऑल इंडिया रेडियोमें ही होगा, नाटककारको आल इंडिया रेडियोकी नीतिसे परिचित होना चाहिए। ऐसे विषयोंसे भरसक बचनेका प्रयत्न करना चाहिए, जिनके संबंधमें वाद-विवाद हो अथवा जिनमें किसी मत, धर्म, संप्रदाय या दलका विरोध होता हो। अश्लील एवं भारतीय संस्कृतिकी विरोधी विषय-वस्तुको भी यहाँ प्रश्रय नहीं दिया जाता। ऑल इंडिया रेडियोकी नीतिसे संबंधित एक और बात यहीं कह दी जाय। ऑल इंडिया रेडियो द्वारा किसी कंपनी, समिति, पेटेंट सामान आदिका प्रचार नहीं किया जाता। अतः ऑल इंडिया रेडियोके लिए लिखित नाटकोंमें 'लीडर' 'पिटू होटल', 'पनामा ब्लेड'—जैसे नामोंको नहीं आने देना चाहिए। इनके स्थानपर कल्पित नामोंका सहारा लेना चाहिए।

सफल रेडियो-नाटककी पहली आवश्यकता है एक अच्छी कहानी। जबतक कथानक सशक्त न होगा, तबतक नाटक श्रोताओंको प्रभावित न कर सकेगा। सशक्त कथानकका तात्पर्य ऐसे कथानकसे है, जो श्रोताओंकी जिज्ञासा अंततक जगाये रख सके। यह कलाकारकी प्रतिभापर निर्भर है कि वह कैसे कथानकका निर्माण करता है। इसके लिए कोई एक नियम नहीं दिया जा सकता। नाटककारको ध्यान इसी बातपर रखना है कि नाटकका घटनाक्रम सुसंबद्ध हो, उसमें कहीं ढीलापन न हो। उपन्यास, कहानियों और रंगमंच-नाटकोंमें कुछ ढीलापन रहे, तब भी काम चल सकता है, पर रेडियो-नाटकमें नहीं। इसकी अवधि सीमित होती है, पात्र अदृश्य होते हैं, इसलिए इसका कथानक इतना शृंखलाबद्ध होना चाहिए कि इसका प्रभाव तीरकी तरह हो। कथानकका एक केन्द्रबिंदु होना चाहिए, जो श्रोताओंके मर्मपर आघात कर सके। यह तभी संभव है, जब घटनाएँ इधर-उधर न बिखरें, सीधी गतिसे चलें; स्पष्ट शब्दोंमें, रेडियो-नाटकमें अप्रासंगिक कथानक एवं घटनाओंके लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें कोई भी घटना ऐसी न आनी चाहिए, जो मूल घटनाकी गतिको आगे न बढ़ाये, उसकी सहायता न करे। हमें यह हमेशा याद रखना है कि रेडियो-नाटककी कला गतिशीलताकी कला है, गति ही इसका प्राण है। दृश्य-नाटकोंमें स्थिर एवं गतिहीन उपकरणोंसे भी काम चल जा सकता है; क्योंकि अपनी आँखोंसे हम उन्हें देखते रहते हैं, पर रेडियो-नाटकमें इनका कोई महत्त्व नहीं है। नाटकोंमें गत्यात्मकताका यह गुण तभी आ सकता है, जब छोटे-छोटे और गतिशील दृश्योंका नियोजन किया जाय।

रेडियो-नाटककी नाटकीय एकता कभी भंग नहीं होनी चाहिए। ऐसा करनेका उपाय यह है कि नाटककार सबसे पहले अपने कथानकको संक्षेपमें लिख ले और यह देख ले कि उसकी सभी कड़ियाँ एक दूसरेसे अच्छी तरह जुड़ी हुई हैं, और उसमें श्रोताओंकी जिज्ञासा बनाये रखनेकी पर्याप्त शक्ति है। इस संक्षिप्त कथानकके आधार पर नाटककारके मनमें समूचे नाटकका, प्रारंभसे अंततक, एक साफ़ ढाँचा

रहना चाहिए। उसे यह भी सोच लेना चाहिए कि किस दृश्यके लिए कितना समय देना उचित होगा। कहानी, उपन्यास आदिका लेखक इन बातोंपर बिना विचार किये लिखना प्रारंभ कर सकता है, और तबतक लिखता चला जा सकता है, जबतक उसकी रचना समाप्त न हो जाय। लेकिन रेडियो-नाटककी सीमा पहलेसे निर्धारित है। यदि नाटककार आधे घंटेके लिए कोई नाटक लिख रहा है, तो उसे अपनी लिखावट और अपने अनुभवके आधारपर मालूम है कि उसे चौदह, पंद्रह या सोलह पृष्ठोंमें नाटक समाप्त कर देना है। वह इससे न एक पृष्ठ कम लिख सकता है, न एक पृष्ठ अधिक। इसीलिए रेडियो-नाटककारके मनमें समूचे नाटकका ढाँचा पहलेसे ही तैयार होना चाहिए, जिससे सभी दृश्य अपने-अपने स्थानपर नपे-तुले हों, और नाटक एक सतुलित रचना बन सके।

कथानक-निर्माणके समय लेखकको इस बातपर ध्यान देना है कि उसकी कथा-वस्तु श्रव्य माध्यमसे भलीभाँति व्यक्त की जा सके। उदाहरण-के लिए अंतमें दिया गया नाटक 'संघर्ष' देखा जा सकता है। उसमें एक कलाकारकी समस्या अकित है। वह कलाकार चित्रकार भी हो सकता था, पर नाटकमें उसे शिल्पी रखा गया है। छेनी-हथौड़ेके ध्वनि-प्रभावोंके द्वारा शिल्पीकी कथा रेडियो-नाटकमें प्रभावोत्पादक बनायी जा सकती है।

कथानक बन जानेके बाद सोचना आवश्यक है कि किस प्रकार उसे नाटकमें उपस्थित किया जाय, जिससे वह अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक हो सके। रेडियो-नाटकका प्रारंभ ही इस प्रकारका होना चाहिए कि कुछ पंक्तियाँ सुननेके बाद ही श्रोताका मन उससे उलझ जाय और वह आगेकी बातें सुननेके लिए उत्सुक हो उठे। यह सफल रेडियो-नाटककी बहुत बड़ी विशेषता कही जायगी। इसके बाद घटनाओंकी गति भी बड़ी सीधी और सरल होनी चाहिए, उसमें किसी प्रकारकी ऐसी उलझन न हो, जिससे श्रोताओंको नाटकका विकासक्रम समझनेमें कठिनाई हो। लियोनेल गैमलिनने नये रेडियो-नाटककारोंको सलाह दी है कि वे गति, सरलता और कल्पनापर ही अपने नाटकोंको आधारित रखनेका अभ्यास करें।

रेडियो-नाटकमें पात्रोंके चरित्रांकनपर भी विशेष ध्यान देना पड़ता है। पात्रोंके-द्वारा ही रेडियो-नाटककार श्रोताओंको प्रभावित करता है। पात्रोंके विषयमें पहली बात यह है कि उनपर हम सहज ही विश्वास कर सकें। वे पात्र हाड़-मांसके सजीव मनुष्य हों, जिनमें विश्वास-सृष्टिकी पर्याप्त शक्ति हो। दूसरी बात यह कि पात्रोंके चरित्रकी रेखाएँ साफ़-साफ़ उभरी हुई होनी चाहिएँ। प्रत्येक पात्रकी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ प्रदर्शित की जाएँगी, तभी रेडियो-नाटक सफल हो सकेगा। यह काम बहुत कठिन है। हमारे यहाँके अधिक रेडियो-नाटकोंमें ऐसा नहीं हो पाता। श्री कृष्ण शुंगलू ऑल इंडिया रेडियोसे प्रसारित होनेवाले नाटकोंके विषयमें लिखते हैं—'A complaint often voiced by our actors and producers is that there is little characterisation in the scripts given to them. The characters which they are supposed to portray and interpret, they say, are cliches which do not respond to the events around them. Our actors want characters with three dimensions and a soul, just as our producers are keen on scripts which can be translated into sound and sound-patterns.' (Aspects of Broadcasting in India). उनके अनुसार हमारे यहाँके नाटकोंमें चरित्रांकनपर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। सफल रेडियो-नाटककारके लिए इसपर ध्यान देना आवश्यक है। चरित्रोंका विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वे अपनी परिस्थितियोंसे स्वतः उद्भूत जान पड़ें, उनकी बातें प्रत्येक स्थितिमें स्वाभाविक ज्ञात हों। पात्रोंकी एक-एक उक्ति, एक-एक क्रिया-द्वारा उनके चरित्रोंपर प्रकाश पड़ना चाहिए। चूँकि रेडियो-नाटकको अपनी सीमित अवधिमें ही सब-कुछ करना पड़ता है, उसकी कोई भी पंक्ति अथवा घटना निरर्थक नहीं

जानी चाहिए। उनकी सार्थकता इसीमें है कि घटनाओंकी गतिमें सहायता मिले और पात्रोंका चरित्रांकन हो।

रेडियो-नाटकके पात्रोंके संबंधमें एक बात यह भी याद रखनेकी है कि अधिक पात्रोंके जमघटसे अनेक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी पात्रका चरित्रांकन अच्छी तरह नहीं हो पाता, श्रोताओंके लिए सब पात्रोंके नाम याद रखना और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। ये असुविधाएँ इसलिए होती हैं कि रेडियो-नाटकके पात्र अदृश्य होते हैं। अतः आवश्यक है कि रेडियो-नाटकमें कम-से-कम पात्र रखे जायँ। साथ ही पात्र ऐसे हों कि उनकी आवाज़ और उनके बोलनेके ढंगसे ही श्रोता उन्हें पहचान लें। अच्छा तो यह होगा कि पात्रोंकी कल्पना ध्वनिके आधारपर ही की जाय। हम प्रतिदिन देखते हैं कि मनुष्योंकी चारित्रिक वैयक्तिकता उनकी आवाज़, बोलनेके ढंग आदिसे प्रकट होती है। रेडियो-नाटककारका ध्यान इस बातपर विशेष रूपसे जाना चाहिए। तात्पर्य यह कि पात्रोंमें जितनी अधिक व्यक्तिगत विशेषताएँ रहेंगी, वे उसी हदतक नाटकको सफल बनानेमें समर्थ हो सकेंगे।

नाटकका एक आवश्यक अंग कथनोपकथन भी है, जिसपर 'रेडियो-नाटकके उपकरण' अध्यायमें विस्तारके साथ विचार किया गया है।

रेडियो-नाटकके शीर्षकपर भी ध्यान देना बहुत आवश्यक है। श्रोता सबसे पहले शीर्षक ही तो सुनता है। इसलिए शीर्षक इतना आकर्षक होना चाहिए कि वह श्रोताओंकी जिज्ञासा जगा दे। उदाहरणके लिए, अंतमें दिये गये नाटकका शीर्षक देखिए—'वे अभी भी क्वाँरी हैं।' इसे सुनते ही श्रोताकी उत्सुकता जग जाएगी, वह जानना चाहेगा कि किसकी और कैसी कहानी है।

रेडियो-रूपक

'रेडियो-रूपक' नामसे हिंदीमें अनेक प्रकारकी रचनाएँ लिखी जा रही हैं। इन रचनाओंमें किसी एक निश्चित स्वरूप-विधानके दर्शन नहीं होते, पर एक बात इन सबमें सामान्यतः यह दिखायी पड़ती है कि इनमें एक या एकसे अधिक नैरेटर (जिन्हें वाचक, वाचिका, पुरुष-स्वर, स्त्री-स्वर आदि नाम दिये गये हैं) होते हैं, जो बिखरी हुई घटनाओंकी कड़ियाँ जोड़ते हैं, दृश्यों-परिस्थितियों आदिके विवरण देते हैं, किसी विषयपर वाद-विवाद करते हैं, कोई कथा कहते हैं, या ऐसे ही दूसरे-दूसरे प्रयोजन सिद्ध करते हैं। चूँकि ये नैरेटर किसी-न-किसी रूपमें सब रूपकोंमें होते हैं, यह समझ लिया जाता है कि जिन नाटकोंमें नैरेटर होते हैं, वे सब रूपक हैं, पर बात वास्तवमें यह नहीं है। 'रेडियो-रूपक'के स्वरूप-विधान और विशेषताओंपर विचार करनेके पहले 'रेडियो-रूपक' नामके संबंधमें विचार कर लेना उचित होगा।

'रेडियो-रूपक' नाम बहुत भ्रामक है। इसमें आये 'रूपक' शब्दसे भ्रम होता है कि इसका संबंध प्राचीन नाट्य-शास्त्रके 'रूपक' (जो दृश्य-काव्यका पर्याय था, और 'नाटक', 'नाटिका' आदि जिसके प्रधान भेदोंमें थे) से है। इस दृष्टिसे कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि रेडियोसे प्रसारित होनेवाले सब नाटक 'रेडियो-रूपक'के अंतर्गत आ जाएँगे। पर यह मात्र भ्रम है। 'रेडियो-रूपक'का प्राचीन नाट्य-शास्त्रके 'रूपक'से कोई संबंध नहीं है। वास्तवमें 'रेडियो-रूपक' शब्द अँग्रेज़ीके 'रेडियो-फीचर' (Radio Feature) के लिए व्यवहृत किया जा रहा है, यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि 'फीचर'का अनुवाद 'रूपक' क्यों, कब और कैसे किया गया। अब तो 'फीचर'के लिए 'रूपक' शब्द रूढ़ हो गया है। अतः 'रूपक'की विशेषताओंको समझनेके लिए 'फीचर'के विषयमें जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

बी० बी० सी०में 'फीचर' नाम 'डॉकुमेंट्री' (यथातथ्य सूचनाओंपर आधारित नाटकीय रचना) के लिए व्यवहृत होता है। "'फीचर' नामसे लिखी जानेवाली रचनाओंका अपना इतिहास है। आजसे लगभग पच्चीस वर्ष पहले बी० बी० सी०में 'फीचर' नामकी रचनाएँ नहीं होती थीं, लेकिन बी० बी० सी०का नाटक-विभाग रेडियो-टेक्नीकके संबंधमें नये-नये प्रयोग कर रहा था। उसे विशेष अवसरोंके लिए विशेष कार्यक्रमोंका आयोजन करना पड़ता था—ठीक वैसे ही, जैसे प्रजातंत्र-दिवस, रवीन्द्र-जयन्ती, 'प्रसाद'-दिवस आदि विशेष अवसरोंके लिए ऑल इंडिया रेडियोके विभिन्न स्टेशनोंसे विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं; और, जिस प्रकार इन विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ 'Radio Highlight' या 'विशेष कार्यक्रम' शीर्षकोंसे समाचारपत्रोंमें दी जाती है, उसी प्रकार बी० बी०सी० के विशेष कार्यक्रमोंकी सूचनाएँ पत्रोंमें निकलती थी। इस तरह विशेष कार्यक्रमोंको सामान्य कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक प्रधानता दी जाती थी, और इन्हें लोग'Featured Programme'कहते थे। बोलचालमें'Featured'के'd'का लोप हो गया, और लोग उसे'Feature Programme' कहने लगे। पहले 'फीचर प्रोग्राम'का अर्थ वहाँ 'विशेष कार्यक्रम' ही था, लेकिन धीरे-धीरे उसके अंतर्गत वे सभी रचनाएँ आने लगीं, जो रेडियो-टेकनीककी दिशामें कुछ नये प्रयोगोंके लिए लिखी जाती थीं। इन प्रयोगशील कार्यक्रमोंका झुकाव कल्पना-प्रधान रचनाओंकी ओर कम, और तथ्य-प्रधान रचनाओंकी ओर अधिक था। उन्ही दिनों ग्रेटब्रिटेनमें डॉकुमेंट्री फिल्मोंका विकास हुआ, और रेडियोके फीचर प्रोग्रामोंसे संबद्ध कुछ व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगे। वे आवाज़को रिकार्ड करनेवाली मशीनोंके द्वारा यथातथ्य घटनाओंके रिकार्ड तैयार कर लेते, और उन्हींके आधारपर नाटकीय रचनाएँ लिखकर प्रसारित करते। ये नये प्रकारकी रचनाएँ,

---

१ "Documentaries are known in the B. B. C. as Features'." —Felix Felton

जिन्हें 'रेडियो-डॉकुमेंट्री' कहा जाता था, बड़ी आकर्षक थीं। फलतः इस दिशामें अनेक प्रयोग होते रहे, और अब तो इनकी टेकनीक इतनी अधिक विकसित हो चुकी है कि बी० बी० सी०मे नाटक-विभागसे पृथक् इनके लिए एक अपना स्वतंत्र विभाग है। तो, 'फीचर'का यही इतिहास है। यथातथ्य घटनाओं एवं सूचनाओंपर आधारित नाटकीय रचनाओं को ही अंग्रेजीमें 'फीचर' कहा जाता है, और 'फीचर'को ही हमलोग हिंदीमें रूपक कहने लगे हैं (कुछ लोग इन्हें 'आलेख-रूपक' या 'वस्तु-रूपक' भी कहते हैं), यद्यपि यथार्थतः 'फीचर' कही जानेवाली रचनाएँ इनी-गिनी ही मिलेंगी। बी० बी० सी० के पच्चीस वर्षोंके परिश्रमकी उपलब्धिको इतनी जल्दी प्राप्त कर लेना शायद संभव भी नहीं था। हमारे यहाँ अभी साधनोंका अभाव है। हमारे यहाँके रेडियो-स्टेशनोंमें रूपकोंके लिए स्वतन्त्र विभाग भी नहीं है। उनके प्रसरणमें आर्थिक व्यय भी अधिक पड़ता है। लेखक भी उनकी टेकनीकसे अभी पूर्णतः विज्ञ नहीं हैं। इस दिशामें जब सबका ध्यान जाएगा, तभी रूपकोंकी कलाका विकास हो सकेगा।

अब हमें देखना चाहिए कि वास्तवमें रूपक है क्या ? लुई मैकनीसने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है–'The radio feature is a dramatised presentation of actuality but its author should be much more than a repporteur or a camera-man; he must select his actuality material with great discrimination and then keep control of it so that it subserves a single dramatic effect.'

तात्पर्य यह कि रूपक वास्तविकता का नाटकीकृत रूप है। वास्तविकताका मतलब यहाँ प्रधानतः वास्तविक घटनाओं और तथ्योंसे है। नाटककार, कहानीकार आदि कलाकार कल्पित घटनाओंको अपनी रचनाओंका आधार बनाते हैं, यद्यपि उनके माध्यमसे व्यक्त विषय-वस्तु

अवास्तविक नहीं कही जा सकती, वह भी हमारे जीवनकी ही होतीहै। लेकिन रूपककारके लिए आवश्यक है कि वह वास्तविक घटनाओंके आधार-पर ही अपने रूपककी रचना करे। यह बात एक-दो उदाहरणों-द्वारा सरलतासे समझी जा सकती है। यदि रूपककार मिथिलाके लोक-जीवनपर कोई रूपक लिख रहा हो, तो उसे वहाँके लोगोंकी बातचीत, उनके गीत आदिके रिकार्ड तैयार कर लेने पड़ेंगे, जिससे वहाँके लोक-जीवनका वास्तविक परिचय वहाँके लोगोंके शब्दोंमें प्राप्त हो सके। यदि रूपककार दामोदर नदीकी योजनापर कोई रूपक लिखना चाहे, तो उसे उस योजना-में लगे हुए लोगों, उस क्षेत्रमें रहनेवालों आदिके विचार उन्हींके शब्दोंमें प्राप्त करने होंगे (यह काम उन लोगोंसे बातचीत करके और उसका रिकार्ड तैयार करके किया जाता है)। डोनल्ड बोडने रूपककारके लिए यही बात कही है—'What you are setting out to do is to extract in mint condition the thought at the back of the speaker's mind and mint condition means—his own words'. इससे स्पष्ट है कि यह काम मात्र लेखकोंके लिए असंभव है। रेडियो-स्टेशनके अधिकारियों और लेखकोंके सहयोगसे ही सफल रेडियो-रूपक प्रसारित हो सकते हैं।

अपने यहाँके रेडियो-स्टेशनोंकी वर्त्तमान स्थितिमें इस प्रकारके रूपकों-का लिखा जाना एक प्रकारसे असंभव दीखता है। और, आजकल वर्त्तमान समस्याओं, योजनाओं आदिपर जैसी डॉकुमेंट्री फिल्में हमारे यहाँ बनती हैं, वैसी रेडियो-डॉकुमेंट्री सचमुच ही असंभव है। इससे ज्ञात होता है कि रेडियो-रूपकका क्षेत्र बहुत सीमित है, सीमित तो है ही, पर साधनोंके अभावमें रूपक-रचनाके नये मार्ग खोजे गये हैं। लियोनेल गैमलिनने रेडियो-रूपकके विषयमें लिखा है—'Quite simply, it's a near-relation of the documentary film. Based on actual fact, it is presented in dramatic form with real people as the actors, or sometimes with professio-

nal actors re-creating the characters of the original story or incidents.'

इसके अनुसार वास्तविक व्यक्तियोंके बदले कभी-कभी अभिनेताओंसे काम लिया जा सकता है। गैमलिनने 'कभी-कभी' संभवतः इसलिए कहा है कि कुछ रूपकोंमें वास्तविक व्यक्तियोको अभिनेताके रूपमे उपस्थित करना हमेशा संभव नहीं होता। ऐतिहासिक रूपकोंमें तो वास्तविक व्यक्तियोंको पात्रके रूपमें उपस्थित करना बिल्कुल असंभव है, ऐतिहासिक पात्रोका कार्य अभिनेता ही सम्पन्न कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि गैमलिनके अनुसार कभी-कभी अभिनेताओको रूपकोंमें रखा जा सकता है। पर हम लोगोंके यहाँ जो रूपक प्रसारित किये जाते हैं, उनमे 'कभी-कभी' नहीं, बल्कि हमेशा ही वास्तविक व्यक्तियोका कार्य अभिनेता किया करते हैं। बहुत-से रूपकोंमें तो पात्र रहते ही नही, केवल दो-तीन नैरेटर बारी-बारीसे किसी विषयपर भाषण देते है। उदाहरणके लिए, यदि किसी रूपकमें यह दिखलाना हुआ कि पिछले कुछ वर्षोंमें हमारे राष्ट्रने किन-किन क्षेत्रोंमे क्या-क्या विकास किये है, तो दो-तीन नैरेटरोके द्वारा विकास-संबंधी सारी बातें कहला दी जाती है। ऐसे रूपकोंमें नाटकीयता, सजीवता एवं मनोरजकताका नितात अभाव रहता है। जबतक हमारे यहाँके रेडियो-स्टेशनोमें रूपकोंके लिए विशेष प्रबंध नही किया जाता, तबतक यही होता रहेगा।

चूँकि 'रूपक' नाम उपर्युक्त दोनों प्रकारकी रचनाओंके लिए व्यवहृत किया जा रहा है, हम उचित समझते है कि दोनोके लिए अलग-अलग नाम दिये जायँ। अच्छा होगा कि सही अर्थ मे फीचर या डॉकुमेंट्री कही जानेवाली रचनाओंको 'आलेख-रूपक' या 'वस्तु-रूपक' कहा जाय, और अन्यान्य सामान्य रचनाओको मात्र 'रूपक'।

अब हमें रूपकोंके क्षेत्र एवं उनकी विशेषताओंपर विचार करना चाहिए। रूपककी जो परिभाषा ऊपर दी जा चुकी है, उसके अनुसार रूपकोंमे सब प्रकारकी वास्तविकताओका नाटकीकृत रूप उपस्थित किया

जा सकता है। जिस प्रकार वास्तविकताओंकी कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार रूपकोंकी भी कोई सीमा नही है। उनका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है, उनमें सब प्रकारके विषयोंका समावेश हो सकता है। उनके माध्यमसे हम किसी महापुरुषका जीवन-चरित उपस्थित कर सकते हैं, प्रदेश अथवा देश विशेषके लोगोंकी सभ्यता, संस्कृति एवं लोक-जीवनका परिचय दे सकते हैं, ऐतिहासिक महत्त्वके स्थानोंका इतिहास बतला सकते हैं, आविष्कार विशेषका इतिहास कह सकते हैं, संस्था विशेषका परिचय दे सकते हैं; तात्पर्य यह कि सब विषयोंपर रूपक लिखे जाते हैं। एच० आर० विलियमसनके शब्दोंमें Under the somewhat colourless word "feature" we find included didactic documentaries and historical reconstructions, an encyclopaedia entry brought to life and a glorified parlour game, a vivid piece of yesterday's secret history and a glimpse of to-day's odd occupations. We can learn about the law and the applications of science; we can dabble in philosophy and vicariously experience the thrills of physical escape, we can see other lands through amusing individual eyes or switch a general focus on problems at home; we can hear the voices of the great, living and dead, and we can estimate the intellects of the famous and popular.'

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी भी नीरस किंतु वास्तविक विषयको रूपकके माध्यमसे उपस्थित किया जा सकता है, पर उपस्थित करनेके ढंगमें मनोरंजकता और सजीवताका रहना अनिवार्य है, जिससे श्रोताओंका मन ऊबे नहीं और वे अंत तक रूपक सुनते रह सकें।

The B. B. C. Quarterly (Autumn 1951)

इसके लिए आवश्यक है कि रूपकमें एकरसता न आने दी जाय। अनेक उपायोंसे ऐसा किया जा सकता है।

सबसे पहले तो लेखकको सोचना पड़ता है कि वह किस तथ्यको कितने कलात्मक ढंगसे उपस्थित कर रहा है। मान लीजिए, 'मिथिला' प्रदेश-पर एक रूपक लिखते समय हमें उसकी सीमा बतलानी है। साधारणतः एक नैरेटर-द्वारा कहलाया जा सकता है—'मिथिलाके उत्तरमें नेपाल है, दक्षिणमें गंगा नदी, पूर्वमें कोसी नदी है, पश्चिममें गंडक।' पर इन बातों-को दूसरे प्रकारसे भी रक्खा जा सकता है। डॉकुमेंट्री फिल्ममें यदि यह सीमा दिखलानी होती, तो दर्शकोंके सामने मिथिला और उसके निकटवर्ती प्रदेशोंका एक मानचित्र उपस्थित कर दिया जाता, और बारी-बारीसे चारों ओरके सीमावर्ती प्रदेशोंसे अलग कर दिया जाता; नैरेटर नेपथ्यसे अलग किये जानेवाले प्रदेशोंके नाम बतलाता जाता, और अंतमें दर्शकोंके सामने चित्रपटपर केवल मिथिलाका मानचित्र रह जाता। जैसा कि हम देख चुके हैं, फिल्मोंमें दृश्य साधन उपलब्ध हैं, पर रेडियोमें उनका नितांत अभाव है। यहाँ सब कुछ ध्वनियोंके माध्यमसे ही प्रस्तुत करना होता है। अतः रेडियो-रूपकमें मिथिलाकी सीमा उसके सीमावर्ती प्रदेशोंमें बोली जाने-वाली भाषाओंसे दी जा सकती है। 'मिथिला' रूपकमें यह सीमा इसी प्रकार दिखलायी गयी थी—

स्त्री नैरेटर—यह मिथिलाकी भूमि है, जिसके उत्तरमें पड़ोसी राष्ट्र नेपाल है,

नेपाली-स्वर—कती राम्रो छ हाम्रो देश नेपाल! हिमालयको उपत्यकामा बनेको, वागमतीको लहर लहराउँदै रहेछन् ह्या! भारत-प्रसिद्ध पशुपतिनाथको मंदिर पनी ह्यं-इछन्!

(नदीकी धाराकी आवाज़)

पुरुष नैरेटर—यह मिथिलाकी भूमि है, जिसके पूर्वमें कोसी नदी प्रवाहित होती रहती है, और उसके बाद,

(एक बंगला-गीतका थोड़ा-सा अंश, उसकी समाप्तिके साथ ही पृष्ठभूमिमें जल-धाराकी आवाज़)

स्त्री नैरेटर—पश्चिममें गंडककी धारा कल-कल-निनाद किया करती है, जिसके पार

भोजपुरी-स्वर—जी हँऽ, ई कुँअरसिंघके जवार हऽ, जिन्हिका दहड़लासे दुसमनके करेज दरकि जात रहल हा। जानत नइखीं ? ई हे नु भोजपुरीके इलाका हऽ।

(जलधाराकी आवाज़का तेज होकर फिर मंद हो जाना)

पुरुष नैरेटर—दक्षिणमें पुण्य-सलिला गंगा है, जिसके दूसरे तटपर है मगध,

(एक मगही गीतका थोड़ा-सा अंश)

स्त्री नैरेटर—नेपाली, बँगला, भोजपुरी और मगही भाषावाले प्रदेशोंके बीचमें यह है मिथिलाकी भूमि, जिसकी सीमा बृहद् विष्णु पुराणके अनुसार इस प्रकार है—

स्वर—गंगाहिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंश व्यायामः परिकीर्तितः॥

पुरुष नैरेटर—इसीको मैथिलीमें एक कविने इस प्रकार कहा है—

स्वर—गंगा बहथि जनिक दक्षिण दिशि पूर्व कौशिकी धारा।
पश्चिम बहथि गंडकी उत्तर हिमवत वल-विस्तारा॥
कमला त्रियुगा अमृता धेमुरा बागमती कृतसारा।
मध्य बहथि लक्ष्मणा प्रभृति से मिथिला विद्यागारा॥

उदाहरणसे स्पष्ट है कि किसी नीरस तथ्यको किस मनोरंजक ढंगसे प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे एकरसता नहीं आने पाएगी, और सामान्य विवरणकी अपेक्षा इसमें प्रभावोत्पादकता भी अधिक रहेगी।

एक दूसरे प्रकारका उदाहरण 'मंज़िलकी ओर' रूपकसे देखिए—

पुरुष-नैरेटर—आज देशके सामने अनेक समस्याएँ हैं—

आदमी १—कहाँ जा रहे हो जी ?

आदमी २—गंगा बाबूके यहाँ !

आदमी १—क्या बात है ?

आदमी २—मोहनको लड़का हुआ है !

आदमी १—बड़ी खुशीकी बात है !

(संक्षिप्त संगीत)

स्त्री—सुना तुमने ?

पुरुष—क्या ?

स्त्री—मालतीको लड़की हुई है !

पुरुष—सचमुच ?

स्त्री—हाँ,हाँ ! झूठ थोड़े ही कहती हूँ।

पुरुष-नैरेटर—जन-संख्या बढ़ती जा रही है ! उसके लिए भोजन, वस्त्र और निवासका प्रबंध करना है।

इस प्रकार छोटी-छोटी बातोंको नाटकीय रूपमे रक्खा जा सकता है।

रूपकमें एकरसता न आने देनेके लिए एक-दो और बातोंपर ध्यान देना पड़ता है। जहाँ एकसे अधिक नैरेटरोंकी आवश्यकता हो, वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों नैरेटरोंको बारी-बारीसे रखकर स्वरकी एकरसतासे बचा जा सकता है।

अनेक ऐसे स्थल भी आते है, जहाँ केवल नैरेटरोंके द्वारा ही बहुत-सी बातें कहलानी पड़ती हैं। वैसे स्थलोंपर यदि कुछ नैरेटर बारी-बारीसे लंबे-लंबे उद्धरण बोलना शुरू कर दे, तो रूपकका प्रवाह रुक जाएगा, उसमें एकरसता आ जाएगी, और श्रोता उससे ऊब जाएँगे। उसमें नाटकीयताका नितांत अभाव रहेगा, और उसे रेडियो-रूपक कहा ही नही जा सकता। वह तो वास्तवमें किसी बड़े निबंधको कुछ नैरेटरों-द्वारा पढ़वा देना है। फेलिक्स फेल्टनने इस संबंधमे अपना अनुभव लिखा है—'The trouble about multiple narration is that it can easily be-

come a cover for inadequate dramatic treatment. I was once sent a "dramatised" script, consisting almost entirely of a slab of narrative divided between five different voices. If this is all there is to it, radio-dramatic writing is easy. You need do no more than number the sentences of an "Encyclopaedia Britannica" article, and send it off to the typist.'

अतः ऐसे अवसरोंपर यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि बिना नीरस बनाये अपनी बात किस तरह कही जाय। 'मिथिला'से ही एक उदाहरण देखिए—

पुरुष-नैरेटर—मिथिलाके पास भाव-प्रवण हृदय ही नहीं, प्रखर मस्तिष्क भी है।

स्त्री-नैरेटर—इसने तन्मयताके गीत तो रचे ही हैं।

पुरुष-नैरेटर—दर्शनकी भी साधना की है।

स्त्री-नैरेटर—ईसाके एक हज़ार वर्ष पूर्व यहाँ वैदिक ज्ञानके केन्द्र थे।

(**किसी वैदिक ऋचाका समवेत पाठ**)

स्त्री-नैरेटर—मिथिला बड़े-बड़े दार्शनिकोंकी भूमि है।

पुरुष-नैरेटर—न्यायसूत्रोंके रचयिता ऋषि गौतम यहीं हुए थे।

स्त्री-नैरेटर—वैशेषिक-दर्शनके जन्मदाता कणाद की जन्म-भूमि यही है।

पुरुष-नैरेटर—मीमांसा-दर्शनके प्रवर्त्तक जैमिनि यहीं रहते थे।

स्त्री-नैरेटर—सांख्य-शास्त्रके निर्माता कपिलका निवास मिथिलामें ही था।

पुरुष-नैरेटर—वेदांत-दर्शनके सर्वप्रथम प्रणेता व्यासकी भूमि मिथिला ही है।

स्त्री-नैरेटर—ईसाकी छठवीं शताब्दी पूर्वसे तीसरी शताब्दी पूर्वतक इसीके वैशाली नगरमें महात्मा बुद्धकी वाणी गूंजी थी।

अनेक स्वर—बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघ शरणं गच्छामि।

इस उदाहरणसे समझा जा सकता है कि नैरेटरोंके संक्षिप्त उद्धरणोंके कारण रूपककी गतिशीलता बनी रहती है। यदि एक ही या दो उद्धरणोंमें सब बातें कह देनेका प्रयत्न किया जाता, तो रूपकमें प्रवाह नहीं आ पाता। साथ ही, उपर्युक्त उदाहरणमें नैरेटरोंके संक्षिप्त भाषणोंको भी एक ही प्रकारसे बहुत देरतक नहीं चलने दिया जाता। बीच-बीचमें वैदिक ऋचा और 'बुद्धं शरण'के आ जानेसे उनमें एकरसता नहीं आने पाती!

ध्वनि-प्रभावोंके द्वारा भी रूपकोंको सजीव, गतिशील एवं प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। 'अहिंसाकी मूर्त्ति' रूपकके निम्नलिखित उदाहरणसे यह बात समझी जा सकती है—

लेखा—सन् १९३९ में संसारका दूसरा महायुद्ध प्रारंभ हुआ। तानाशाह हिटलरकी फौज छोटे-छोटे राष्ट्रोंको रौंदती हुई आगे बढ़ने लगी।

(मशीनगन, टैंक आदिकी आवाज)

लेखा—नार्वेका पतन हुआ।

(मशीनगन, टैंक आदिकी आवाज)

लेखा—हालैंड और बेलजियम पराजित हुए।

(मशीनगन, टैंक आदिकी आवाज)

लेखा—फ्रांसने हिटलरके सामने घुटने टेक दिये।

इस उदाहरणकी घटनाएँ गतिशील हैं, ध्वनि-प्रभावोंने उनकी गतिशीलताको सशक्त बनाया है। लेकिन जिन स्थलोंके विवरण स्थिर होते हैं, उनको नीरस होनेसे बचाना भी रूपककारका काम है। इसके लिए भी

ध्वनि-प्रभावोंकी सहायता ली जाती है। उदाहरणके लिए 'मंजिलकी ओर' रूपकसे एक उद्धरण दिया जाता है—

(पृष्ठभूमिमें मशीनकी हल्की आवाज)

स्त्री—खादके लिए भारतको अबतक दूसरे देशोंपर निर्भर करना पड़ रहा था, लेकिन खाद बनानेके लिए अब सिंदरीमें कारखाना खुल चुका है।

(मशीनकी आवाज तेज होकर, फिर मंद हो जाती है, और पृष्ठभूमिमें चलती रहती है)

पुरुष१—यह सिंदरीका कारखाना है। यहाँ अमोनियम सल्फेट तैयार किया जाता है। यह खाद खेतोंमें पड़कर उन्हे नयी शक्ति देगी।

पुरुष२—भारतके आर्थिक निर्माणमें सिंदरीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे विदेशोंको जानेवाले दस करोड़ रुपयोंकी वार्षिक बचत होगी।

स्त्री—दस लाख टन अनाजकी उपज बढ़ेगी।

पुरुष१—इसकी नींवपर रासायनिक उद्योगोंके बड़े-बड़े कारखाने खुलेंगे।

स्त्री—इसकी बनी हुई खाद इतनी सस्ती होगी कि साधारण किसान उसे सरलतासे खरीद सकेंगे।

(मशीनकी आवाज बंद हो जाती है)

ध्वनि-प्रभावोंके साथ-साथ रूपकोंमें समुचित संगीतका भी व्यवहार किया जाता है। इनसे अपेक्षित वातावरणकी सृष्टि करनेमें बहुत सहायता मिलती है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि रूपकोंके लिए सजीवता, सरसता, मनोरंजकता, नाटकीयता, गतिशीलता और समुचित वातावरणकी सृष्टि अनिवार्य है। लेकिन किसी रूपकके विभिन्न अंशोंमें इन विशेषताओंका

होना उसकी सफलताके लिए पर्याप्त नहीं है। अपने संपूर्ण रूपमें रूपकको सुसंगठित रचना होना चाहिए। उसका संपूर्ण संगठन इस प्रकारका होना चाहिए कि उससे, जैसा कि लुई मैकनीसके एक उद्धरणमें ऊपर कहा गया है, एक नाटकीय प्रभावकी सृष्टि होती हो। सामान्यतः रूपकोंके विषय बहुत विस्तृत और उलझनवाले होते हैं, और उनके आधारपर सफल रूपक लिख सकना कुशल रूपककारका ही काम है। लेखकके सामने अनेक समस्याएँ आती हैं कि वह अपने रूपकके लिए किसी विषयके अंतर्गत आनेवाली घटनाओंमेंसे किन्हें ले, किन्हें छोड़ दे, किन बातोंको किन स्थानोंपर कहे। इन समस्याओंपर विचार करते समय लेखकके ध्यानमें हमेशा यह रहना चाहिए कि सफल रेडियो-रूपक वही है, जो अपने संपूर्ण रूपमें श्रोताओंको प्रभावित कर दे, उनके मानस-पटपर एक स्थिर एवं स्पष्ट रेखा खींच दे। इसके लिए कोई एक निश्चित उपाय नहीं बतलाया जा सकता। रूपकोंके विषयोंके साथ-साथ उनकी अभिव्यक्तिका ढंग भी बदलता रहेगा। लेकिन सब रूपकोंकी गति सीधी एवं स्वाभाविक होनी चाहिए। उनका विकास ऐसा कदापि न होना चाहिए कि श्रोताओंको अनुभव हो, जैसे एक स्थलसे दूसरे स्थलपर आनेके लिए छलाँग मारी जा रही है। इसके विपरीत रूपकमें प्रतिपाद्य विषय-वस्तु एवं घटनाओंका विकास क्रमिक एवं स्वाभाविक होना चाहिए। तभी उससे एक निश्चित प्रभाव की सृष्टि हो सकेगी, अन्यथा वह रूपक, जिसमें कोई नैरेटर यत्र-तत्र बिखरी हुई घटनाओंको जोड़ भर देता है, रूपक न होकर, रूपकका विडंबना मात्र होगा।

कुछ रूपक वास्तविक घटनाओं और कल्पनाके मिश्रणसे भी लिखे जा सकते हैं। कोई ऐसा कथानक तैयार कर लिया जा सकता है, जो प्रतिपाद्य विषय-वस्तु एवं घटनाओंके साथ-साथ उनके समानांतर चलता रहे, अथवा उससे पूर्णतः संबद्ध हो। उदाहरणके लिए, यदि सरकारकी 'अल्प-बचत-योजना'पर कोई रूपक लिखना हो, तो किसी ऐसे पति-पत्नीकी कल्पना की जा सकती है, जो अपने एक निकट संबंधीकी मृत्युसे शोकाकुल और चिंतित

हैं। उनके निकट संबंधीने अपने जीवनमें काफ़ी रुपये कमाये, पर भविष्यके लिए कुछ नहीं बचाया। अब उसकी मृत्युके बाद उसकी विधवा पत्नी और तीन बच्चे निराधार हैं। हमारे कल्पित पति-पत्नी इन्हीं बातोंको सोच-कर चिंतित होते हैं, तबतक एक जानकार व्यक्ति आता है और उनकी चिंताका कारण समझकर उन्हें अल्प-बचत-योजनाकी उपयोगिता, नियम आदिसे परिचित कराता है। यहां नैरेटरका काम यह परिचित व्यक्ति ही करेगा। इस प्रकार वास्तविकता एवं कल्पनाको मिलाकर भी रूपक लिखे जा सकते हैं।

अब हम रूपकोंकी भाषा-शैलीपर आते हैं। जैसा प्रारंभमें कहा गया है, रूपकोंमें वास्तविक व्यक्तियोंको ही पात्र बनाया जाता है। अतः उन व्यक्तियोंके व्यवसाय, संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदिके अनुरूप ही उनकी भाषा होनी चाहिए। स्वाभाविकता तो तब आती है, जब उनकी भाषा, उनके बोलनेके ढंग, उनके लहजेके रिकार्ड तैयार करके, उन्हींके आधारपर रूपक लिखे जाते हैं। पर चूंकि हमारे यहां अभी साधनोंका अभाव है, इस संबंधमें यही कहा जा सकता है कि रूपकके कथनोपकथन की भाषा यथासंभव स्वाभाविक और पात्रोंके अनुरूप होनी चाहिए। नैरेटरों-की भाषा भी साहित्यिक और अलंकृत होनेके बदले सरल, स्पष्ट एवं वाता-वरण तथा विषय-वस्तुके अनुरूप हो, तभी रूपक सफल हो सकता है।

आलेख-रूपक अथवा डॉकुमेंट्रीके संबंधमें यह याद रखना चाहिए कि वह लेखक, प्रोड्यूसर, इंजीनियर आदिके सहयोगका फल है। पहले उसकी एक सुनिश्चित रूप-रेखा बनायी जाती है, उसके आधारपर इंटरव्यू, वक्तव्य, गीत आदिके रिकार्ड तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार सामग्री-संग्रहके बाद उसके संपादन एवं संयोजनका कार्य होता है। पर्याप्त काट-छांट, जोड़-घटावके बाद आलेख-रूपकको अंतिम रूप मिलता है।

रूपक लिखना सचमुच अपनेमें ही एक स्वतंत्र कला है, जो नाटक आदिके स्वरूप-विधानोंसे पूर्णतः पृथक् है। श्री विलियमसनका तो कहना है कि रेडियोके पास यदि कोई अपनी कला है, जिसके स्वरूप-विधानका

निर्माण केवल रेडियोने किया है, तो वह रूपक है। (विलियमसनका मतलब आलेख-रूपकसे है)। रेडियोसे प्रसारित की जानेवाली अन्य रचनाएँ तो बहुत अंश तक पहलेसे उपलब्ध रचनाओंके रूपांतरित स्वरूपमात्र हैं। उनके अनुसार केवल रेडियोके लिए लिखनेका अर्थ है रूपक लिखना, रूपक प्रस्तुत करना प्रस्तुतकर्ताकी सबसे बड़ी कुशलता है, और रूपक सुननेका अर्थ है रेडियो-सेट रखनेकी सार्थकता सिद्ध करना।[१] श्री विलियमसनका कथन बी० बी० सी० के गत पच्चीस वर्षोंके प्रयोगोंके फलस्वरूप प्राप्त रूपकोंकी कलापर आधारित है, पर अपने यहाँकी स्थिति देखते हुए अभी हम वैसा नहीं कह सकते। पर उनका कथन सत्य है, और अपने यहाँ रूपकोंकी कलाका विकास होनेपर हम उसकी सार्थकता समझ सकेंगे।

---

१. The feature is the radio-art and all other forms are slightly ersatz. To write for radio (in distinction from writing something that can be broadcast) means to write a feature. To produce a feature implies the ability to be able to produce anything else as part of one's apprenticeship for the final test of craftsmanship. To listen to a feature properly written and produced is to experience again, over a quarter-of-century after, something of that pristine conviction that it was worth while having a wireless.

—Reflections on Radio Features

(The B. B. C. Quarterly, Autumn 1951)

रेडियो-रूपान्तर

रेडियोके लिए मौलिक नाटक और रूपक तो लिखे ही जाते हैं, सुप्रसिद्ध लेखकोंके रंगमंच-नाटकों, कहानियों और उपन्यासोंके रूपोंमें भी इस प्रकार के परिवर्तन किये जाते हैं कि वे रेडियोके श्रव्य माध्यमसे सरलतापूर्वक प्रसारित किये जा सकें। रेडियो-द्वारा इन्हें प्रभावोत्पादक ढंगसे प्रस्तुत करनेके लिए इनके रूपोंमें परिवर्त्तन आवश्यक हो जाता है। मौलिक रंगमंच-नाटकों, कहानियों और उपन्यासों तथा उनके रेडियो-रूपान्तरोंमें माध्यमका अंतर पड़ जाता है। रंगमंचके नाटक दर्शकोंके लिए लिखे जाते हैं, कहानियों और उपन्यासोंकी रचना पाठकोंके लिए होती है। इन सब रचनाओंका प्रभाव आँखोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पर रेडियो-नाटकों का प्रभाव हम केवल कानोंके द्वारा ही ग्रहण करते हैं। यही बात नाटक-विभाग (बी० बी० सी०)के डायरेक्टर भाल गिलगुड इस प्रकार कहते हैं—'Broadcasting is simply another medium of telling a story. The novelist uses the medium of words, the theatre uses the medium of living actors, the cinema uses the medium of the camera and broadcasting uses that of the microphone.' माध्यम बदल जानेके कारण उपर्युक्त रचनाओंके रूपोंमे भी परिवर्त्तन करने पड़ते हैं। रचनाओंका रेडियो-रूपान्तर लिखते समय किन बातोंपर विशेष ध्यान देना पड़ता है, रूपान्तरकारके सामने कैसी-कैसी समस्याएँ आती हैं, और उनका समाधान किस प्रकार किया जाता है, इन बातोंपर हम विचार करेंगे। सब प्रकारकी रचनाओंके रूपान्तरकी समस्याएँ एक ही प्रकारकी नहीं होतीं, इसलिए मैं उपर्युक्त रचनाओंको अलग-अलग लेकर उनके रूपांतरपर प्रकाश डालूँगा।

रंगमंच-नाटकोंके रेडियो-रूपान्तर

रूपान्तरकारका काम किसी रंगमंच-नाटकको रेडियो-माध्यमके अनुरूप बना देना है, कथानकमें परिवर्त्तन करनेकी उसे पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। फेलिक्स फेल्टन अपनी पुस्तक 'The Radio Play' में इस विषयपर लिखते हैं—'The adaptor's work is likely to be unobtrusive rather than spectacular, since his intention will have been to keep the play as nearly as possible in its original form; where, therefore, he has made alterations in the original text, we may be sure that he has had good many reasons for doing so.' तात्पर्य यह कि रूपान्तरको यथासंभव मौलिक नाटकके निकट रहना चाहिए, और रूपान्तरकार नाटकके मौलिक रूपमे यदि कोई परिवर्त्तन करता है, तो इसके लिए उसके पास कोई कारण होना चाहिए।

एक उदाहरणके द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित रंगमच-नाटक 'अम्बपाली'के प्रथम अंकका प्रथम दृश्य देखिए। एक आम्रकुंजमें किशोरी अम्बपाली झूलेपर झूल रही है और गा-रही है—'मेरी श्यामाने वंशी फूँकी, कोइलिया क्यो कूकी ?' गीत समाप्त होते ही उसकी सखी मधूलिका आती है, और दोनो हास-परिहासमें मग्न हो जाती है। इसके बाद दोनोंका वार्त्तालाप इस प्रकार है—

मधूलिका—अम्बे, आज भोर-भोर तूने कुछ देखा है क्या ? या रातमे कोई सपना देखा था ?

अम्बपाली—तेरा मतलब ?

मधूलिका—मतलब है, तेरे इस गानेसे।

अम्बपाली—क्या बिना सपने देखे आदमी कुछ गा नहीं सकता ? और, सच पूछ, तो क्या ऐसी कोई भी रात होती है जिसमें आदमी सपने न देखे या ऐसा कोई भोर आता है जिसमें आदमी कोई रूप न देख पाये ?

मधूलिका—लेकिन, सपने-सपनेमें फर्क होता है और फर्क होता है रूप-रूपमे, अम्बे ! एक सपना होता है जिसमें आदमी डरकर आँखें खोल देता है और एक सपना ऐसा होता है, जिसमें जग जानेके बाद भी आदमी आँख मूंद लेता है कि एक बार फिर उसकी कड़ियाँ जोड़ सके ! समझी ?

अम्बपाली—हूँ ।

मधूलिका—यों ही एक रूप होता है जिसको देखकर आँखें मुड़ जाती या मुंद जाती हैं और दूसरा रूप होता है, जिसपर नज़र पड़ते ही पलकें और बरौनियाँ काम करना छोड़ देती हैं, नज़रोंमे टकटकी बँध जाती है और दिमाग़ चिल्लाता है, आह, ये आँखें इतनी छोटी क्यों हुईं ? बड़ी होतीं, इन्हींमे उसे रख लेता ! समझी ?

अम्बपाली—हूँ ।

मधूलिका—हूँ ! हूँ क्या ?

अम्बपाली—यही कि रूप-रूपमें फर्क होता है और फर्क होता है सपने-सपनेमें । यही न ? लेकिन, एक बात कहूँ मधु, मुझे याद नहीं कि कभी बुरे सपने भी देखे होऊँ; और मेरी आँखोंने जिसे देखा, सुन्दर ही पाया !

मधूलिका—**(आश्चर्यमयी मुद्रासे)** अच्छा ?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, सच कहती हूँ, सखि ! न जाने क्या बात है ? या तो कुरूप चीज़ें मेरी आँखोंके सामने आती ही नहीं, या मेरी नज़रें उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करतीं ......

मधूलिका—**(बात काटकर किञ्चित् मुस्कानसे)** या तेरी नज़र पड़ते ही कुरूप भी रूपवान हो उठते हैं ?

अम्बपाली—दिल्लगीकी बात नहीं है, मधु ! मैंने आजतक दुनियामें सिर्फ़ सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा है—निर्जीव प्रकृतिसे लेकर प्राणवान प्राणी तक ! और, सपने ? उनकी बात मत

पूछ। मधु, आदमी जागना क्यों चाहता है? सोये रहो, सपने देखते रहो; क्या इससे भी कोई दूसरी अधिक सुन्दर चीज हो सकती है? जागरण! (**उपेक्षाके शब्दोंमें**)–जागरण आदमीका वरदान है या अभिशाप, रे!

मधूलिका—आज तुझे यह क्या हो गया है? तू किस सपनेके लोकमें है?

अम्बपाली—सपनेका लोक! आह, मैं हमेशा उसीमें रह पाती, मेरी मधु! जब बच्ची थी, सपनेमें देखती—परियोंका देश, मणियोंका द्वीप, उड़नखटोलेकी सैर! और आजकल? ज्योंहीं आँखें लगीं कि मैं पहुँच गयी उस सुनहली घाटीमें जहाँ इन्द्रधनुषका मेला लगा रहता है, जहाँ जवानी तितलियोंके रूपमें उड़ती रहती है; या उस देवलोकमें जहाँ सुनहले पखवाले देवकुमार नीलमके पंखोंवाली अप्सराओंके अगल-बगल, आगे-पीछे मँड़राते फिरते हैं; या कम-से-कम उस रूपदेशकी राजसभामें, जहाँ कलँगीवाले राजकुमारोंकी भरमार है—जहाँ नृत्य है, संगीत है, और है ...... (**अचानक सिहर उठती है**) मधु, मधु, तू क्या ऐसे सपने नहीं देखती?

मधूलिका—मैं देखती या नहीं देखती, बात मत बहला। बता तूने रात भी क्या कुछ ऐसा ही सपना देखा है?

अम्बपाली—रात जो देखा, उसकी मत पूछ! उफ, बिलकुल अद्भुत, अपूर्व! उसकी यादसे ही शर्म आती है, सखि!

मधूलिका—शर्म! सपनेमें शर्मकी कौन-सी बात री!

अम्बपाली—नहीं मधु, जिद न कर! सचमुच उसकी यादसे ही मैं शर्मसे गड़ जाती हूँ!

मधूलिका—(**व्यंग्यके शब्दोंमें**) समझी, समझी, तभी तो भोर-भोर यह गीत! आखिर अचानक आकर उसने तुझे गुदगुदा

ही दिया—'किसने अचानक.....गुदगुदाया...... (गानेका व्यंग्य करती है)

अम्बपाली—लेकिन, तेरा यह निशाना ठीक नहीं बैठा, मधु ! यह वह बात नहीं, जिसकी तू कल्पना भी कर सके !

मधूलिका—मेरी कल्पनाकी रानी ! मैं, और वहाँ तक पहुँच सकूँ ? खैर, बता, तूने क्या देखा ?

अम्बपाली—तेरी जिद, अच्छा सुन (**वह चकित नेत्रोंसे इधर-उधर देखती है कि कोई दूसरा तो नहीं है और फिर धीमे स्वरमें कहने लगती है**) रात देखा, कहीं अजीब देशमें पहुँच गयी हूँ, जहाँ चारों ओर फूल-ही-फूल है। जिन्हें हम गूलर-पाकड़-पीपल कहते है, उनमे भी फूल लगे हैं—चम्पाके, गुलाबके, पारिजातके। जमीनपर घास-फूसकी जगह फूलोंकी पखड़ियाँ बिछी है और धूलकी जगह पीत-पराग बिखरा है। हवामें अनहद संगीत—वातावरणमें अजीब रंगामेंजी। सामने एक तालाब देखा, जिसमें कमलके सहस्र-सहस्र फूल खिल रहे—लाल, श्वेत, पीत, नील ! और, दर्पणोपम निर्मल नील जल ! मुझे गरमी महसूस हो रही थी। क्यों न तालाबमें नहा लूँ ? इधर-उधर देखा, कोई नहीं। मैंने झटपट कंचुकी उतार दी, बाह्य परिधान खोलकर रख दिया। दौड़-कर किनारे पहुँची। जलमें कूदनेके लिए झाँका, तो अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब देखा ! (**सिहरती हुई**) अपना ही प्रतिबिम्ब ! लेकिन उसे देखते ही, मधु, नसोंमें खूनके एक अजीब ज्वारका अनुभव हुआ और आधी बेहोशीमें ही अपनेको पानीमें फेंक दिया।

मधूलिका—(**विस्मयमें**) अजीब सपना !

अम्बपाली—उसका अनोखापन तो अब आता है, रे। पानीमें धँस-

कर में तैरने लगी और बढ़ी एक नील कमलकी ओर। किन्तु यह क्या? यह तो कलँगीवाला राजकुमार है और मुझे अपनी ओर आते देख वह मुस्करा रहा है। मैं चकित हुई! दूसरे कमलोंकी ओर देखा, वैसे ही कलँगी-वाले राजकुमार, हजार-हजार! और, सब-के-सब मेरी ओर देखकर सिर्फ़ मुस्करा नहीं रहे, बल्कि ठठा-ठठाकर हँस रहे! मैं नंगी—उफ, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे बाहर होऊँ? इससे तो डूब मरना अच्छा। डूब मरूँ—मरूँ—इसी उम्रमें! तो? तो? डुबकी मारकर शर्म छिपानी चाही–एक डुबकी, दूसरी डुबकी, तीसरी डुबकीमें मालूम हुआ, साँस घुट रही है। अच्छा हुआ, नींद टूट गई। जगी तो पाया, पसीने-पसीने थी।

मधूलिका—निस्सन्देह, विचित्र सपना देखा है तूने। लेकिन, समझती है, इसका मानी क्या है?

अम्बपाली—क्या समझूँ? एक दिनका सपना हो तो, कुछ समझा जाय? जिसकी जिन्दगी ही सपनेकी है, वह किस-किसका मानी लगाये?

मधूलिका—लेकिन इस सपनेका तो खास महत्त्व है। वसतके प्रथम दिनका यह सपना साधारण सपनोंमें नहीं है!

अम्बपाली—तो क्या मानी है इसका?

मधूलिका—वही, जो उस दिन ज्योतिषीजीने तेरे हाथकी रेखाएँ देखकर कहा था—"तेरे चरणोंपर हजार-हजार राज-कुमारोंके मुकुट लोटेंगे।"

अम्बपाली—चुप, चुप! मैं तो उसकी कल्पनासे ही सिहर उठती हूँ मधु! "हजार-हजार राजकुमार!" उफ, वह भी कोई जिन्दगी होगी। मेरा तो अकेला.. ..

मधूलिका—'मेरा तो अकेला अरुणध्वज !' क्यों ? यही न कहना चाहती थी ? (**रहस्यपूर्ण ढंगसे मुस्कराती है**)

इसके बाद इसी दृश्यमें अरुणध्वज आता है, तीनोंमें बातें होती हैं। अरुणध्वज वैशालीके फाल्गुनी उत्सवमें चलनेका प्रस्ताव रखता है, और तीनोंका वैशाली जाना एक प्रकारसे निश्चित हो जाता है।

'अम्बपाली'का रूपान्तर करते समय इस प्रथम दृश्यको बिलकुल भिन्न प्रकारसे उपस्थित किया गया है, और इस प्रकारके परिवर्त्तनके लिए अनेक कारण हैं। पहले रूपान्तरित अंश देखिए—वाद्य-संगीतके बाद दृश्य इस प्रकार प्रारंभ होता है—

मधूलिका—क्यों अम्बे, सो गयी ? (**हल्की हँसी**) अभी कह रही थी, कहानी सुनाओ मधु, अभी सो गयी। अच्छा, शांतिसे सो, स्वप्नोंके रंगीन संसारमें विचरण कर। मैं भी सो रही हूँ। (**जम्हाई लेनेकी आवाज**)

(**पृष्ठभूमिमें हल्का स्वप्न-सूचक संगीत**)

कल्पना—(**दूरसे**) अम्बे !—अम्बे !

अम्बपाली—कौन ? .....तुमने मुझको पुकारा ?

कल्पना—हाँ अम्बपाली !

अम्बपाली—कौन हो तुम ?

कल्पना—मुझे नहीं पहचानती ? तुम्हें कबसे नये-नये देश दिखाती रही हूँ ! परियोंका देश दिखाया है मैंने तुम्हें, मणियोंके द्वीपपर तुम्हें ले गयी हूँ मैं। मुझे नहीं पहचानती ?

अम्बपाली—हाँ-हाँ, कुछ-कुछ पहचान तो रही हूँ।

कल्पना—दुत् पगली ! पहचानने, न पहचाननेसे क्या ! चल मेरे साथ, आज फूलोंका देश दिखाऊँगी।

अम्बपाली—फूलोंका देश ?

कल्पना—हाँ अम्बे, ऐसा देश तूने देखा न होगा। चल, उड़ चल मेरे साथ !

अम्बपाली—अच्छा !

(**ऊपर उठता हुआ संगीत**)

अम्बपाली—वह क्या देख रही हूँ मैं ? प्रकाश ! स्वर्णिम प्रकाश !

कल्पना—वह सुनहली घाटियोंका देश है, वहाँ इन्द्रधनुषोंका मेला लगा रहता है। वहाँ देवकुमार रहते हैं, सुनहले पंख-वाले देवकुमार। वे नीलमके पंखोंवाली अप्सराओंके आगे-पीछे, इधर-उधर मँड़राते फिरते हैं। वहाँ नृत्य है, संगीत है.........

अम्बपाली—चलो न वहीं, देवकुमारोंको देखूँगी।

कल्पना—नहीं अम्बे, मैं तुझे फूलोंका देश दिखाऊँगी।

अम्बपाली—वायुकी लहरोंपर तिरती हुई यह कैसी सुरभि आ रही है ?

कल्पना—यह फूलोंके देशकी सुरभि है अम्बे ! देख, तू वहाँ पहुँच भी गयी !

अम्बपाली—कितना सुन्दर देश है यह ! फूलोंका देश ! राशि-राशिके फूल ! चारों ओर फूल-ही-फूल—चम्पाके, गुलाबके, पारिजातके ! धरतीपर फूलोंकी पंखुड़ियाँ, धूलके बदले पीतपराग ! चारों ओर यौवनकी रंगीन तितलियाँ उड़ रही हैं।

कल्पना—यही फूलोंका देश है अम्बे !

अम्बपाली—और यह ?

कल्पना—निर्मल नील सरोवर।

अम्बपाली—कैसा मनमोहक है यह ! कमलके फूल—सहस्र ! सहस्र ही नहीं, असंख्य। लाल, श्वेत, पीत, नील ! ये फूल मुझे स्नान करनेका इंगित कर रहे हैं। सुनती हो ? ....अरे, तुम कहाँ गयी? अभी तो यहीं थी, कहाँ अदृश्य हो गयी ? (**हल्की हँसी**) अच्छा ही हुआ, तुम चली गयी। मैं कंचुकी खोलकर, परिधान उतारकर

स्नान करूँगी इसमें ! तुम्हारे रहनेसे मुझे लज्जा लगती। निर्मल जलमें मेरा प्रतिबिम्ब ! कितना सुन्दर है यह ! अच्छा, जलमें कूद पड़ूँ। (**जलमें कूदनेकी आवाज**) वह नील कमल ! चलूँ, ले आऊँ उसे ! (**तैरनेकी आवाज**) अरे ! यह क्या ? यह फूल नहीं, कलँगी-वाला राजकुमार है। मुझे देखकर मुस्कुरा रहा है। भागूँ, उधर चलूँ........इधर भी कलँगीवाला राजकुमार ! इधर भी कलँगीवाला राजकुमार ! इतने राजकुमार !

बहुत-से पुरुष-स्वर (**बारी-बारीसे**)—इधर आओ अम्बे ! इधर आओ अम्बे ! (**कई बार**)

अम्बपाली—मुझे मत देखो, मुझे मत देखो, मैं नग्न हूँ, नग्न हूँ मैं !

बहुत-से पुरुष-स्वर–(**हँसी**)

अम्बपाली—तुम नहीं मानते, नहीं मानते, तो मैं डूब मरूँगी ! आह ! साँस......घुट......रही ! ......आह ! (**जोरसे**) आह !

(**पृष्ठभूमि-संगीत समाप्त**)

मधूलिका—क्या है अम्बे ?

अम्बपाली—कौन ? कौन ? मधु ? कुछ नहीं मधु, कुछ नहीं ! मैं स्वप्न देख रही थी !

मधूलिका—तू तो सदैव स्वप्न ही देखा करती है अम्बे ! कोई भयानक स्वप्न था क्या ?

अम्बपाली—नहीं, मधु, भयानक स्वप्न नहीं था।

मधूलिका—तो, तू इस तरह चिल्ला क्यों उठी ?

अम्बपाली—यों ही।

मधूलिका—यों ही नहीं, तुझे कहना पड़ेगा।

अम्बपाली—मैं लज्जाके नील सरोवरमें डूबी जा रही थी !

मधूलिका—लज्जाके नील सरोवरमें ?

अम्बपाली—हाँ मधु, मैं नग्न थी, पूर्णतः नग्न ! और, हजार-हजार राजकुमार, कलँगीवाले राजकुमार मुझे नग्न देख रहे थे !

मधूलिका—अब समझी !

अम्बपाली—क्या समझी मधु ?

मधूलिका—वसंतकी प्रथम रात्रिका यह स्वप्न कुछ महत्त्व रखता है अम्ब !

अम्बपाली—क्या महत्त्व रखता है मधु ?

मधूलिका—यह साधारण स्वप्न नहीं है ! इसका तात्पर्य........

अम्बपाली—क्या तात्पर्य है इसका ?

मधूलिका—याद है तुझे ? उस दिन ज्योतिषीने तेरे हाथकी रेखाएँ देखकर क्या कहा था ? तेरे चरणोंपर हजार-हजार राजकुमारोंके मुकुट लोटेंगे !

अम्बपाली—चुप, चुप ! मैं तो उसकी कल्पनासे ही सिहर उठती हूँ मधु ! हजार-हजार राजकुमार ! उफ ! क्या वह भी कोई जीवन होगा ? मेरा तो अकेला........

मधूलिका—अरुणध्वज है ! क्यों, यही न कहना चाहती हो ?

अम्बपाली—हाँ मधु, यही कहना चाहती हूँ !

मधूलिका—तो, आशंकित होनेकी क्या बात है ? स्वप्न भी कभी सत्य होते हैं ?

अम्बपाली—नहीं मधु, तू कह रही थी, यह स्वप्न असाधारण है !

मधूलिका—अच्छा, इसका विचार कल करना। आओ, अब सो जाएँ ! अभी रात बहुत शेष है !

(वाद्य-संगीतसे दृश्य समाप्त होता है)

अब ऊपरके दोनों अंशोंको देखनेसे ज्ञात होगा कि नाटकका रूपान्तर करते समय उसके मौलिक रूपमें पर्याप्त परिवर्त्तन किया गया है, पर इन परिवर्त्तनोंके लिए रूपान्तरकारके पास अनेक कारण हैं। सबसे पहला परिवर्त्तन तो यह है कि दृश्यके प्रारंभमें अम्बपाली जो गीत गा रही है, उसे हटा दिया

गया है, अम्बपाली और मधूलिकाकी चुहलबाजी तथा स्वप्न एवं रूपके संबंधमें उनकी बातचीतको रूपान्तरित अंशमें कोई स्थान नहीं दिया गया है। ऐसा करनेके लिए पहला कारण यह है कि रेडियो-नाटकमें समयका बंधन है। रंगमंचपर 'अम्बपाली'का अभिनय दो-ढाई घंटे तक दिखाया जा सकता है, पर रेडियो-द्वारा उसे एक घंटेमें ही प्रसारित करना है। 'अम्बपाली'के रेडियो-रूपान्तरको इस प्रकार रखना है कि एक ही घंटेमें उसका पूरा आनंद उठाया जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि कथनोपकथन और घटना-चक्रके उस अंशको रूपान्तरमें आने न दिया जाय, जिसका नाटकके मूल सूत्रसे निकट संबंध न हो। रंगमंच-नाटकके प्रारंभिक दृश्यमें नाटककी मूल घटना, मूल कथावस्तु अथवा मूल समस्याको धीरे-धीरे प्रस्फुटित होने का अवसर दिया जाता है, लेकिन रेडियो-नाटकमें इसके लिए अवकाश नहीं है। यहाँ हमें नाटककी प्रधान विषय-वस्तुपर शीघ्रतासे पहुँच आना है। रेडियो-नाटकमें ऐसे अंशोंके लिए कोई स्थान नहीं है, जो नाटककी मूल कथावस्तु या समस्यापर शीघ्रतासे पहुँचनेमें बाधक हों। इसीलिए 'अम्ब-पाली'के रूपान्तरमें पहले गीतको भी स्थान नहीं दिया गया है। रंगमंचपर गीत गानेमें कुछ समय भी लगता है, और रेडियो-नाटकमें समयका अभाव है।

'अम्बपाली'के उपर्युक्त अंशमें दूसरा परिवर्तन यह है कि समूचा दृश्य बिलकुल भिन्न प्रकारसे उपस्थित किया गया है। मूल नाटकमें पहला दृश्य आम्र-कुंजका है, जिसमें अम्बपाली झूलेपर झूलती है, वहीं मधूलिका आती है और दोनोंमें बातें होती हैं, वहीं अम्बपाली मधूलिकाको अपना विचित्र सपना भी सुनाती है। रूपान्तरित अंशमें दृश्य शयन-कक्षसे प्रारंभ होता है, जिसमें अम्बपाली और मधूलिका सोयी हुई हैं, यहीं अम्बपाली स्वप्न देखती है। रंगमंचकी दृष्टिसे पहला दृश्य बड़ा सुन्दर था। पर्दा उठते ही लोग आम्र-कुंजका रमणीय दृश्य देखते, जिसमें अम्बपाली झूलेपर झूलती हुई गाती रहती, बादमें अपनी सखी मधूलिकासे अपने स्वप्नका विवरण देती। 'अम्बपाली'के प्रथम दृश्यमें स्वप्नका वर्णन ही सबसे प्रधान वस्तु है, क्योंकि इससे उसकी मानसिक अवस्थाका परिचय मिलता है। हम उसका मनो-

वैज्ञानिक विश्लेषण करें, तो ज्ञात होगा कि किसी ज्योतिषीने उसके हाथकी रेखाएँ देखकर भविष्यवाणी की है कि उसके चरणोंपर हजार-हजार राजकुमारोंके मुकुट लोटेंगे। इस बातको वह अपने चेतन मनमें स्थान नहीं देती, क्योंकि वह अरुणसे प्रेम करती है। हजार-हजार राजकुमारोंकी कल्पनासे ही वह सिहर उठती है, फलतः यह भावना उसके अवचेतन मनमें समा जाती है और वहींसे स्वप्न बनकर उसकी पलकोंमें आती है। इन दोनों परस्पर विरोधी भावनाओंके कारण अम्बपालीके मनमें एक द्वन्द्व है, जो 'अम्बपाली' नाटकका प्रधान विषय है। तो, स्वप्न-दृश्य 'अम्बपाली'का प्रारंभिक केन्द्र-बिंदु है, जहांसे कथा-वस्तु आगे चलती है, लेकिन मूल नाटकमें यह स्वप्न-दृश्य वर्णनके रूपमे आया है, क्योंकि उसके पास रंगमंचका बंधन है। रंगमंचपर स्वप्न-दृश्य दिखलानेमें कठिनाई है, पर रेडियो-द्वारा इसे सरलतासे प्रस्तुत किया जा सकता है। स्वप्न-दृश्यको वर्णन-द्वारा उपस्थित न करके, स्वतंत्र रूपसे ही क्यों उपस्थित किया जाय, इसके लिए भी कारण है। प्रत्यक्ष दृश्यमे जो प्रभावोत्पादकता और मर्मस्पर्शिता होती है, वह वर्णनमें नही होती। इसीलिए रूपान्तरमे स्वप्नको प्रत्यक्ष दृश्यके रूपमे प्रस्तुत किया गया है।

यों, देखनेसे ज्ञात होगा कि रूपान्तर मूल नाटकसे भिन्न है, लेकिन उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषणको देखनेसे सदेह नही रह जाएगा कि विषय-वस्तुकी दृष्टिसे रूपान्तर और मूल नाटकमे कोई अतर नहीं है। दोनोंमें अंतर केवल अभिव्यक्ति और माध्यमका है। प्रभावोत्पादकताकी दृष्टिसे रंगमंचकी ही विषय-वस्तुको रेडियो-माध्यमके लिए परिवर्तित कर दिया गया है।

पर सब नाटकोंमे एक ही प्रकारके परिवर्तन नही किये जा सकते। प्रत्येक नाटकके रूपान्तरकी अपनी समस्याएँ होती है, और रूपान्तरकारको सोचना पड़ता है कि नाटकके किन अशोंमें, किस प्रकारके परिवर्त्तन किये जायँ कि वह सरलतासे रेडियो-द्वारा प्रसारित किया जा सके, और लोग उसे केवल सुनकर ही समझ सकें। इसीलिए रूपान्तरका कोई एक निश्चित उपाय

नहीं बतलाया जा सकता। यह रूपान्तरकारकी अपनी सूझ, प्रतिभा और अनुभवपर निर्भर है कि वह कहाँ और किस प्रकारके परिवर्त्तन करता है, पर सब प्रकारके परिवर्तनोंकी सार्थकता होनी चाहिए। उदाहरणके लिए 'अम्बपाली'का ही एक दूसरा दृश्य देखिए। इसके तीसरे अंकके प्रथम चार दृश्यों-में अजातशत्रुकी कथा है। उनमें दिखलाया गया है कि अजातशत्रुके हृदयमें अम्बपालीके प्रति आसक्तिकी भावना है, वह वैशालीपर आक्रमण करनेके लिए अपने मन्त्रियोंसे परामर्श करता है, कूटनीतिके खेल खेलता है, वैशाली के नागरिकोंमें भेदभावके बीज बोता है, और अंतमें उसपर आक्रमण करके विजयी होता है। यह समूची कथा 'अम्बपाली'की आधिकारिक कथासे अलग है, इससे अम्बपालीकी चारित्रिक विशेषताओंपर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। (उसकी वीरता अवश्य सामने आती है, जिसका संकेत रूपा-न्तरित अंशमें आगे कर दिया गया है)। साथ ही, रूपान्तरित नाटककी अवधि भी मूल नाटकसे कम होनी चाहिए। इसलिए छब्बीस पृष्ठोंकी इस कथाको इस प्रकार संक्षिप्त कर दिया गया है।

(**वाद्य-संगीतसे दृश्य-परिवर्त्तन**)

चयनिका—देवि अम्बपाली।

अम्बपाली—क्या है चयनिके ?

चयनिका—सुना है, वैशालीपर आक्रमण होनेवाला है। मगधराज अजातशत्रुकी सेनाएँ बढ़ती आ रही हैं।

अम्बपाली—हाँ चयनिके, जानती हूँ मैं। वैशाली और मगधकी शत्रुता नयी नहीं है। मगध वैशालीकी उन्नति नहीं देख सकता, वृज्जिसंघका गौरव उसके अंतरको जला रहा है। जानती है, अजातशत्रुने क्या कहा है ?

चयनिका—क्या कहा है भद्रे ?

अम्बपाली—अजातशत्रुने कहा है, वैशाली (**फेड आउट**)*

---

* **'फेड आउट'का तात्पर्य होता है—ध्वनिका धीरे-धीरे लुप्त होजाना। इसके लिए अभिनेता बोलता हुआ धीरे-धीरे माइक्रोफोनसे दूर हट जाता है।**

अजातशत्रु—(**फेड इन**)* को पददलित कर दूँगा। उसके गौरवको धूलमें मिला दूँगा। वृज्जियोंको अपने संघ-बलका अभिमान हो गया है। गंगापर चलनेवाले हमारे बजरोंसे वे कर वसूलते हैं, गंगा पारकर वे हमारे गाँव पर छापा मारते हैं, उन्हें लूटते हैं। मगध अपना यह अपमान नहीं सहन कर सकता। वह वैशालीको पददलित करके रहेगा।

(**युद्ध-संगीत, युद्ध-कोलाहल**)

अजातशत्रु—मगधके वीरो, बढ़ते चलो, विजय तुम्हारी है।

(**युद्ध-संगीत, युद्ध-कोलाहल, फिर संगीत**)

अजातशत्रु—(**अट्टहास**) वृज्जियोंको अपनी संघ-शक्तिका अभिमान था! (**हँसी**) भगवान् बुद्धने कहा था, वृज्जियोंकी उन्नति होगी, उन्हें कोई पराजित नही कर सकेगा! (**हँसी**) अजातशत्रुकी तलवारसे अपनी तलवार टकराते चले थे वे! (**हँसी**)

(**वाद्य-संगीत-द्वारा दृश्य-परिवर्तन**)

अम्बपाली—क्यों चयनिके, देख तो, मेरा शृंगार कैसा उतरा!—नहीं बोलती तू? क्या सोच रही है?

चयनिका—कुछ नही आर्ये! आपका यह शृंगार देखकर आपके वीर-वेशकी स्मृति सजग हो आती है!

अम्बपाली—वीर-वेश! हाँ चयनिके, वैशालीके लिए अम्बपाली सबकुछ कर सकती है। लेकिन, उस वीर-वेशसे कोई लाभ तो न हुआ, वैशाली पराजित होकर रही।

***'फेड इन' का तात्पर्य होता है—ध्वनिका धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाना। इसके लिए अभिनेता दूरसे बोलता हुआ धीरे-धीरे माइक्रोफोनके निकट आ जाता है। इसकी पूरी चर्चा आगे 'रेडियो-रंगमंच' शीर्षक अध्यायमें की गयी है।**

इस प्रकार मूल कथावस्तुमें बिना किसी व्याघातके उसके एक बहुत बड़े अंशका रूपान्तर कर दिया गया है। रूपान्तर करनेमें बड़े-बड़े अंशोंको तो संक्षिप्त करना ही पड़ता है, पर कहीं-कहीं दृश्योंका स्थान-परिवर्त्तन भी करना पड़ता है। रंगमंचके नाटकोंमें पात्र दर्शकोंके सम्मुख रहते हैं, और दर्शक उनकी आकृतियोंसे परिचित हो जाते हैं, भले ही उनका पूरा परिचय उन्हें न प्राप्त हो। फलतः नाटककी कथावस्तु समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। पर रेडियो-नाटक केवल ध्वनियोंपर ही निर्भर है। उसमे रंगमंच-नाटककी उपर्युक्त सुविधा नहीं रहती। कुछ नाटकोंका रेडियो-रूपान्तर करते समय यह कठिनाई सामने आ जाती है। उदाहरणके लिए 'स्वप्नवासवदत्ता' का प्रथम अंक है। प्रथम अंकके शुरूमें ही एक संकेत है—'परिव्राजक वेशधारी यौगंधरायण और आवंतिका वेशधारिणी वासवदत्ताका प्रवेश'। प्रथम अंकके मध्यमें इनके स्वगत-कथनसे इनका परिचय मिलता है। वहीं ब्रह्मचारीके कथनसे इनके गुप्त रहस्यका पता चलता है। यदि रेडियो-रूपान्तर मूल नाटककी ही तरह प्रारंभ किया जाय, तो श्रोताओंके लिए वह सहज बोध-गम्य नहीं हो सकेगा। इसलिए रूपान्तरमें नाटक इस प्रकार प्रारंभ होता है—

(प्रारंभिक वाद्य-संगीतके बाद कोलाहल, आह-चीत्कार, 'आग-आग' 'भागो, भागो'की ध्वनियाँ)

यौगन्धरायण—क्या हुआ आर्य ?

पुरुष—नहीं जानते ? समूचा गाँव भस्म हो गया !

यौगन्धरायण—भस्म हो गया ? कौन-सा गाँव था आर्य ?

पुरुष—यही तो वत्सराजमें विख्यात लावणक ग्राम था ! महाराज उदयनका शिविर यहीं तो था !

यौगन्धरायण—तब ?

पुरुष—महाराज उदयन आखेट खेलने गये थे, तबतक गाँवमें आग लग गयी ! और महाराजकी प्राणोंसे भी प्रिय पत्नी वासवदत्ता जल मरी।

यौगन्धरायण—जल मरी ?

पुरुष—हाँ आर्य ! लोग कहते हैं, उसे बचानेके लिए मंत्री यौगंध-रायण आगमें कूद पड़े।

यौगन्धरायण—उनका क्या हुआ ?

पुरुष—वे भी भस्म हो गये !

यौगन्धरायण—फिर ?

पुरुष—उसके बाद मुझे ज्ञात नहीं। अच्छा आर्य, मुझे देर हो रही है, मैं चला।

यौगन्धरायण—अच्छा, जाइए। (**तनिक ठहरकर, हँसते हुए**) लोग कहते है, महाराज उदयनका मंत्री यौगंधरायण जल मरा, और मैं अभी जी रहा हूँ। महारानी वासवदत्ता भी अभी जीवित ही है। ठीक है, जैसा मंत्रियोंमें निश्चित हुआ था, वैसा हो रहा है। जब मेरे स्वामी समूचे वत्सदेशपर अधिकार कर लेंगे, तब मैं महारानी वासवदत्ताको लेकर उनके सम्मुख उपस्थित होऊँगा। तबतक विरह-दग्ध महाराज उदयनकी सेवा मंत्री रुमण्वान करेगा ही। अच्छा, अब महारानीको मुझे किसी सुरक्षित स्थानमें पहुँचा देना चाहिए।

घटनाओं और पात्रोंके संबंधमें इतना परिचय प्राप्त कर लेनेके बाद श्रोताओंको नाटक समझनेमें कोई कठिनाई न होगी।

इन परिवर्त्तनोंके अतिरिक्त कुछ और भी बातें है, जिनपर ध्यान देना आवश्यक होता है। पहली बात तो है, रेडियो-नाटककी सीमित अवधि, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। बड़े-बड़े नाटकोंकी अप्रासंगिक कथाओं को काट-छाँटकर नाटककी अवधि कम करनी पड़ती है। सभव है, कुछ नाटकोंकी अवधि कम न की जा सके। वैसी स्थितिमें फेलिक्स फेल्टनकी राय है कि नाटकका रूपान्तर प्रसारित ही न किया जाय। उसने कहा है—"Where the play cannot be reduced to the time

allowed without real damage it should obviously not be broadcast.'

ध्यान देनेकी दूसरी बात है पात्रोंकी संख्या। रंगमंचपर अनेक पात्र एक ही साथ उपस्थित हो सकते हैं, और दर्शकोंको उनका परिचय प्राप्त करने और उनकी बातें समझनेमें कोई कठिनाई न होगी। लेकिन रेडियो-नाटकके श्रोताके लिए एक साथ ही अनेक पात्रोंसे परिचित होना, उनके नाम याद रखना, उनकी आवाज़से ही उन्हें अच्छी तरह पहचानते रहना मुश्किल है। इसलिए रूपान्तर करते समय रूपान्तरकारके लिए आवश्यक है कि वह एक साथ ही अनेक पात्रोंको न आने दे।

साथ ही पात्रोंका प्रवेश और प्रस्थान पर भी रूपान्तरकारका ध्यान जाना चाहिए। रंगमंचपर प्रवेश और प्रस्थानकी कोई असुविधा नहीं है। दर्शक पात्रोंको रंगमंचपर आते, और वहाँसे विदा लेते देखते ही रहते हैं, पर रेडियो-नाटकके श्रोताओंको इन बातोंसे परिचित कराते रहनेके लिए लेखकको सजग रहना पड़ता है। बहुत अंश तक यह काम प्रस्तुतकर्ताओं (Producers) पर निर्भर है कि कौन पात्र माइक्रोफोनसे किस तरफ़ बोले, कितनी दूरसे बोले अथवा किस प्रकार बोलता हुआ माइक्रोफोनसे दूर हटता जाये।

पात्रोंसे संबंधित एक बात और है। रंगमंचके नाटकोंमें हम देखते हैं कि कभी-कभी दो पात्र आपसमें बहुत देर तक बातें करते रहते हैं, और तीसरा पात्र, जिसके बोलनेकी आवश्यकता नहीं रहती, मौन होकर सुनता रहता है, और कुछ समयके बाद बोलता है। दर्शक उसे देखते रहते हैं, और उन्हें इसमें कोई खटकनेवाली बात नहीं दिखायी देती। पर रेडियो-नाटकके श्रोताके लिए यह बात चौंका देनेवाली है। एकाएक तीसरे पात्रकी आवाज़ सुनकर वह समझ नहीं पाएगा कि वह कहाँसे आ गया। तात्पर्य यह कि रेडियो-नाटकमें किसी पात्रको बहुत देरतक मौन नहीं रखा जा सकता। उदाहरणके लिए ऊपर उद्धृत 'अम्बपाली' का रूपान्तरित अंश देखिए। प्रारंभमें मधूलिकाकी कुछ पंक्तियाँ श्रोताओंको इस बातकी सूचना

देनेके लिए ही दी गयी हैं कि अम्बपाली जब सपना देख रही है, तब मधूलिका भी वहीं है, जिससे अम्बपालीके जागनेपर मधूलिकाका उससे बातें करना असंगत न लगे।

रंगमंचपर ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब सभी पात्र पूर्णतः मौन हो जायँ, पर रेडियो-नाटकमें ऐसी परिस्थिति कभी नहीं आ सकती। रेडियोपर पन्द्रह सेकेंडकी शांति भी बहुत अधिक होगी। अतः रूपान्तर करते समय वैसी परिस्थितियोंकी अभिव्यक्ति भी ध्वनियोंके ही द्वारा होनी चाहिए।

रंगमंच-नाटकोंके दर्शकोंको यह समझनेमें कभी कोई कठिनाई नहीं होती कि कौन पात्र किससे बोल रहा है। उनमें पात्र बारी-बारीसे अनेक पात्रोंकी ओर घूम-घूमकर उनसे बातें कर सकता है, पर रेडियो-नाटकोंमें यह सुविधा नहीं है। अतः रूपान्तर करते समय रेडियो-नाटककी इस सीमा-की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

रूपान्तर करते समय अनेक स्थलोंपर रूपान्तरकारको मूल नाटकमें परिवर्त्तन करने पड़ते हैं, यह ऊपरकी बातोंसे स्पष्ट हो चुका है। कहीं-कहीं अपनी ओरसे भी कुछ अंश या दृश्य जोड़ने पड़ते हैं। वैसी परिस्थितिमें रूपान्तरकारको अपनी भाषा और शैली-संबंधी शक्तिका परिचय देना होता है। नये जोड़े गये अंशोंकी भाषा-शैली मूल नाटककी भाषा-शैलीसे बिलकुल मिलती-जुलती होनी चाहिए, जिससे श्रोता मूल नाटक और उसके रूपान्तर में जोड़े गये नये अंशोंमें कोई अंतर न पा सके।

इन बातोंसे यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि रंगमंच-नाटकोंके रेडियो-रूपान्तरका अर्थ केवल यही नहीं है कि किसी नाटकको काट-छाँटकर उसकी अवधि कम कर दी जाय, रंगमंचके संकेतोंको हटा दिया जाय, कथनोपकथन में पात्र एक-दूसरेको नामसे संबोधित करें। इसका अर्थ है—एक नये माध्यम-के अनुरूप नाटकके स्वरूप-विधानमें पूर्ण परिवर्त्तन।

कहानियोंके रेडियो-रूपान्तर

रंगमंच-नाटकोंके रेडियो-रूपान्तरकी भाँति छोटी कहानियोंके भी रेडियो-रूपान्तर प्रसारित किये जाते हैं। इनमें अनेक सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। आजके कर्म-व्यस्त युगमें मनुष्य बड़े उपन्यासों और नाटकोंसे बचनेका प्रयास करता है। उसकी माँग कम-से-कम समयमें अधिक मनोरंजन एवं आनंदकी होती है। साथ ही बहुत लोग प्रसिद्ध कथाकारोंकी कृतियोंसे परिचित होना चाहते हैं, पर पुस्तक उठाकर उन्हें पढ़ लेनेका धैर्य उनके पास नहीं होता। और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्णनात्मक कहानियोंकी अपेक्षा नाटकोंमें अधिक प्रभावोत्पादकता और मनोरंजकता होती है। इन बातोंसे समझा जा सकता है कि सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकोंके रेडियो-रूपान्तर बड़े लोक-प्रिय हो सकते हैं। रूपान्तर इसी दृष्टिसे किये भी जाते हैं।

कहानियोंके रेडियो-रूपान्तरको साधारणतः बहुत सरल समझा जाता है, पर बात ऐसी नहीं है। सफल रेडियो-रूपान्तर उतना ही कठिन है, जितना किसी मौलिक नाटककी रचना। मौलिक नाटककी रचनामें जिस कल्पना-शक्ति और सूझकी अपेक्षा होती है, वही रूपान्तरके लिए भी आवश्यक है। साथ ही इसमें अपने नवीन माध्यमका पर्याप्त ज्ञान और अनुभव भी अपेक्षित है।

कहानियाँ पढ़ी जानेके लिए लिखी जाती हैं। उनका रूपान्तर करनेका अर्थ है, उन्हें एक नये माध्यमके उपयुक्त बनाना। इसके लिए रूपान्तरकारको सबसे पहले यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि कहानियाँ अपने मौलिक रूपमें भले ही पढ़ दी जायँ, पर 'नाटक' कहकर प्रसारित नहीं की जा सकतीं। साथ ही, यह भी समझ लेना आवश्यक है कि किसी कहानीके रेडियो-रूपान्तरका मतलब केवल यही नहीं है कि उसे कथनोपकथनके माध्यमसे कह दिया जाय, बल्कि यह भी कि उसमें नाटकीय तत्त्वोंका समावेश किया

जाय, उसका नाटकीकरण कर दिया जाय। यदि ऐसा नहीं होता, तो उसे सफल रूपान्तर नहीं कहा जाएगा। इस संबंधमें चार्ल्स हैटनका कहना है—'In converting the short story into radio form, the whole effect has to be heightened and made more dramatic if it is to be successful. Otherwise, the B.B.C. might just as well engage a competent performer to read the original story'. इन बातोंको उदाहरण-द्वारा समझनेमें सुविधा होगी। 'प्रसाद'जीकी सुप्रसिद्ध कहानी 'इन्द्रजाल'का प्रारंभिक अंश इस प्रकार है—

'गाँवके बाहर, एक छोटेसे बजरमे कंजरोंका दल पड़ा था। उस परिवारमें टट्टू, भैंसे और कुत्तोंको मिलाकर इक्कीस प्राणी थे। उसका सरदार मैंकू, लंबी-चौड़ी हड्डियोंवाला एक अधेड़ पुरुष था। दया, माया उसके पास फटकने नहीं पाती थी। उसकी घनी दाढ़ी और मूँछोंके भीतर प्रसन्नताकी हँसी भी छिपी ही रह जाती। गाँवमें भीख माँगनेके लिए जब कंजरोंकी स्त्रियाँ जाती, तो उनके लिए मैंकूकी आज्ञा थी कि कुछ न मिलनेपर अपने बच्चोंको निर्दयतासे गृहस्थके द्वारपर जो स्त्री न पटक देगी, उसको भयानक दण्ड मिलेगा।

उस निर्दय झुण्डमें गानेवाली एक लड़की थी। और एक बाँसुरी बजानेवाला युवक। ये दोनों भी गा-बजाकर जो पाते, वह मैंकूके चरणोंमें लाकर रख देते। फिर भी गोली और बेलाकी प्रसन्नताकी सीमा न थी। उन दोनोंका नित्य संपर्क ही उनके लिए स्वर्गीय सुख था। इन घुमक्कड़ोंके दलमें ये दोनों विभिन्न रुचिके प्राणी थे। बेला बेड़िन थी। माँके मर जानेपर अपने अकर्मण्य पिताके साथ वह कंजरोंके हाथ लगी। अपनी माताके गाने-बजानेका संस्कार उसकी नस-नसमे भरा था। वह बचपनसे ही अपनी माताका अनुकरण करती हुई अलापती रहती थी।

शासनकी कठोरताके कारण कंजरोंका डाका और लड़कियोंके चुरानेका व्यापार बंद हो चला था। फिर भी मैंकू अवसरसे नहीं चूकता। अपने

दलकी उन्नतिमें बराबर लगा ही रहता। इसी तरह गोलीके बापके मर जानेपर—जो एक चतुर नट था—मैकूने उसकी खेलकी पिटारीके साथ गोलीपर भी अधिकार जमाया। गोली महुअर तो बजाता ही था; पर बेलाका साथ होनेपर उसने बाँसुरी बजानेमें अभ्यास किया। पहले तो उसकी नट विद्यामें बेला भी मनोयोगसे लगी; किंतु दोनोंको भानुमती-वाली पिटारी ढोकर दो-चार पैसे कमाना अच्छा न लगा। दोनोंको मालूम हुआ कि दर्शक उस खेलसे अधिक उसका गाना पसंद करते हैं। दोनोंका झुकाव उसी ओर हुआ। पैसा भी मिलने लगा। इन नवागन्तुक बाहरियों-की कजरोंके दलमें प्रतिष्ठा बढ़ी।

बेला साँवली थी। जैसे पावसकी मेघमालामें छिपे हुए आलोक-पिण्ड-का प्रकाश निखरनेकी अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीरके भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोलीके स्नेहकी मदिरासे उसकी कजरारी आँखें लालीसे भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती। फिर भी गोलीसे अभी उसका ब्याह नहीं हुआ था।

गोली जब बाँसुरी बजाने लगता, तब बेलाके साहित्यहीन गीत जैसे प्रेमके माधुर्यकी व्याख्या करने लगते। गाँवके लोग उसके गीतोंके लिए कंजरोंको शीघ्र हटानेका उद्योग नहीं करते। जहाँ अपने अन्य सदस्योंके कारण कंजरोंका वह दल घृणा और भयका पात्र था, वहाँ गोली और बेलाका संगीत आकर्षणके लिए पर्याप्त था; किंतु इसीमें एक व्यक्तिका अवांछनीय सहयोग भी आवश्यक था। वह था भूरे, छोटी-सी ढोल लेकर उसे भी बेलाका साथ करना पड़ता था।

भूरे सचमुच भेड़िया था। गोली अधरोंसे बाँसुरी लगाये, अर्द्ध-निमी-लित आँखोंके अंतरालसे, बेलाके मुखको देखता हुआ जब हृदयकी फूँकसे बाँसके टुकड़को अनुप्राणित कर देता, तब विकट घृणासे ताड़ित होकर भूरेकी भयानक थाप ढोलपर पड़ जाती। क्षण-भरके लिए जैसे दोनों चौंक उठते।'

प्रश्न यह है कि इस अंशको नाटकीय रूप कैसे दिया जाय ? इस समूचे अंशमें केवल विवरण ही है, इसमें कोई गति नहीं, कोई घटना नहीं, कोई संघर्ष नहीं। स्पष्ट है कि अपने मौलिक रूपमें इसे कोई पढ भले ही दे, इसका अभिनय नहीं किया जा सकता। अतः रूपान्तर करनेके लिए हमें इसकी प्रमुख बातोंको ध्यानमें रखकर बिलकुल भिन्न प्रकारसे लिखना होगा। इसका रूपान्तर इस प्रकार किया जा सकता है—

(वाद्य-संगीतसे दृश्य आरम्भ)

आदमी—क्यों भूरे, मौज है न ?

भूरे—मौज क्या खाक है !

आदमी—क्यों, तू तो हमेशा बेलाके साथ रहता है !

भूरे—साथ रहनेसे क्या हुआ ?

आदमी—बेलाके गीत तेरे ढोलपर ही तो चलते हैं।

भूरे—लेकिन गोलीकी बाँसुरीके सामने बेला मेरा ढोल पसद करे, तब तो !

आदमी—पर तेरे ढोलके बिना वह गा भी तो नही सकती ?

भूरे—यह ठीक कहा तुमने ! नहीं तो बेला और गोली मुझे अपने पास फटकने देते ? बेला मुझसे घृणा करती है, गोली मुझसे दूर-दूर रहता है, लेकिन करे तो क्या ! मुझे अपने पास रखना ही पड़ता है !

आदमी—लेकिन बेला तुझसे जब प्रेम ही नहीं करती, तो साथ रहनेसे क्या होगा ?

भूरे—प्रेम करे या न करे, वह मेरी है ! मै गोलीसे उसका ब्याह कभी न होने दूंगा।

आदमी—क्या करोगे तुम ?

भूरे—क्या करूँगा, देखना क्या करता हूँ !

(वाद्य-संगीतसे दृश्य-परिवर्त्तन)

कथाकार—गाँवके बाहर एक छोटे-से बजरमें कजरोंका दल पड़ा

था। वहीं कंजरोंकी झोपड़ियोंके पास ही पलासके छोटे-से जंगलमें——

बेला——(**खिलखिलाकर हँसना**)

गोली——अरी पगली, हँसती ही रहेगी ?

बेला——और क्या करूँ ?

गोली——भीख माँगने नहीं चलेगी ? समय तो हो गया।

बेला——होने दो गोली, मैंने समयका कुछ लिया है थोड़े ही ?
(**हल्की हँसी**)

गोली——नहीं बेला, सरदार मैंकू आएगा, तो जान ले लेगा।

बेला——सरदार मैंकू !——उसका तो नाम ही सुनकर मेरा दिल दहल जाता है।

गोली——वह राक्षस है बेला, राक्षस ! दया, माया उसके पास है ही नहीं।

(**कुछ दूरपर लोगोंकी हलचल**)

बेला——यह कैसा शोर-गुल है गोली ?

गोली——सुनो बेला, सरदार मैंकू किसीको डाँट रहा है।

(**कुछ दूरपर बच्चेके रोनेकी आवाज़**)

मैंकू——(**दूरसे***——**क्रोधके स्वरमें**)——जा मैना, गाँवसे भीख माँग ले आ ! बिना भीख लिये लौटेगी तो खैरियत नहीं। जिस दरवाजेपर भीख न मिले, उसपर अपने बच्चेको पटक देना। समझी ? जा जल्दी !

बेला——क्यों गोली, सरदार मैंकूका दिल पत्थरका है क्या ?

गोली——हाँ बेला, इसीलिए तो कहता हूँ, चल जल्दी, भीख माँगने चलें ! भूरे हमें खोज रहा होगा !

---

*‘दूर से’ का तात्पर्य है——माइक्रो-फोन से दूर रह कर। स्थान की दूरी व्यंजित करनेके लिए ऐसा किया जाता है।

बेला—खोजने दो उसे !

गोली—मुझे देखकर मन ही मन जलता है ।

बेला—जलकर क्या करेगा ?

गोली—बेला, तू इन कंजरोंके बीच रहने लायक नहीं। तू यहाँ चली कैसे आयी ?

बेला—कैसे चली आयी, क्या बताऊँ ! अच्छी तरह याद भी तो नहीं है ! लेकिन गोली, मेरी माँ मुझे बहुत प्यार करती थी । उसीसे मैंने गीत गाना सीखा था, पर उसके मरनेके बाद कोई प्यार करनेवाला न रहा ! पिता शराबी और आलसी थे, मैंकूके साथ रहने लगे ! करती क्या, मैं भी यहीं रहने लगी ! और, तुम गोली ? तुम यहाँ कैसे आये ?

गोली—मेरा भी कोई नहीं था बेला ! मेरे पिता बड़े अच्छे नट थे । भीख माँगनेके लिए जो खेल रोज करता हूँ, सब मैंने उन्हींसे सीखे थे । लेकिन पिताके मरनेके बाद मैं बेसहारा हो गया ! मैंकूने मुझे पकड़कर अपने पास रख लिया। मैंने भी समझा, अच्छा ही हुआ ! और अब तो मुझे कुछ नहीं चाहिए, तुम मेरे साथ हो गयी हो ।

बेला—हाँ गोली, मुझे भी यही लगता है । तुम्हारे साथ रहकर कोई कमी नहीं खलती ! मेरी खुशी तो तुम्हीं हो !

गोली—दुत् पगली !

बेला—(**हँसी**) ।

गोली—अच्छा, चल अब, बहुत देर हो गयी है !

(**वाद्य संगीतसे दृश्य-परिवर्त्तन**)

इस प्रकार कहानीके प्रारंभिक अंशकी सभी प्रमुख बातें रूपान्तरमें चली आती हैं, साथ ही भूरे और गोलीके बीच द्वन्द्वकी भावना (जो कहानीमें है) उपस्थित कर देनेसे नाटकीयता भी आ जाती है ।

'इन्द्रजाल'के ऊपर दिये गये उद्धरणमें तो पात्रोंका वार्तालाप बिलकुल नहीं है, पर कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें कहानीकार कहानी कहते-कहते आवश्यक समझनेपर पात्रोंके कथनोपकथन भी लिख देता है। वैसी कहानियोंके भी रूपान्तरमें केवल इतनेसे काम नहीं चल जाएगा कि कोई नैरेटर कहानी पढ़ता जाये, और कथनोपकथनवाले प्रसंगोंका अभिनय कर दिया जाय। रूपान्तरकारको उनका भी नाटकीकरण करना चाहिए। चार्ल्स हैटनका विचार है* कि जिस कहानीका रूपान्तर करना हो, उसके कथानकको लेकर फिरसे नयी रचना तैयार करनी चाहिए। इसमें मौलिक कहानीके वे ही अंश रखे जा सकते हैं, जो उचित और अनिवार्य समझे जायँ। हैटनका कथन बहुत अंशोंतक सत्य है, पर यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि किसी रूपान्तरमें कहानी-लेखक और रूपान्तरकारकी मौलिक रचनाएँ किस अनुपातमें रहेंगी। कहानी-कहानीके अनुसार यह अनुपात बदलता रहेगा।

बहुत-सी कहानियोंमें ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनमें किसी एक ही पात्रकी मानसिक स्थिति या उलझनका चित्र उपस्थित किया जाता है। वैसी परि-स्थितियोंमें रूपान्तरकारके सम्मुख बड़ी कठिन समस्या आती है, क्योंकि रूपान्तरमें कथनोपकथन चाहिए, लेकिन जहाँ एक ही पात्र हो, वहाँ कथनोप-कथन संभव नहीं दीखता। उदाहरणके लिए, स्वर्गीय होमवतीजीकी कहानी 'गोटेकी टोपी'का एक प्रसंग इस प्रकार है—

---

* 'To my mind, the ideal method is to use the author's plot and rewrite in this manner, using any of the author's dialogue sequences which are particularly pertinent. I maintain that the resultant script should contain roughly one part of the adapter's original work to two parts of the short story writer's.

Charles Hatton (Radio Plays)

'जब रातको नवल घरमे आया तो उसका मन बहुत ही अशांत और दुखी-सा था। मित्रोंके विशेष आग्रह करनेपर आज वह सिनेमा देखने चला ही गया। खेल था—"देवदास"। पार्वतीका प्रेम, उसकी मूक भाषा तथा चुभते हुए भाव और पत्तोके विवश जीवनका प्रभाव नवलके हृदयमें रेखाएँ-सी खीच गया। देवदासकी दुर्दशाको देखकर तो उसकी आँखें रोते-रोते लाल ही हो गयी थी। मित्रोंने न जाने कितना मज़ाक उड़ाया, फिर भी वह अपनेको रोक न सका। गिरता-पड़ता घर आकर वह अपने कमरेमें पड़ी हुई आराम-कुर्सीपर लेटकर न जाने क्या-क्या सोचता रहा। अचानक कैंचीके गिरनेकी-सी आवाज़से वह चौक उठा। देखा, मंजरी बहुत-से कपड़ोंका ढेर लगाये, ठीक उसके कपड़ोंकी आलमारीके सामने बैठी हुई कुछ सी रही है। नवल एकदम कुर्सीसे उठकर खड़ा हो गया, कौतूहलका कुछ पारावार न था। "इतनी रातको........मेरे कपड़े ठीक कर रही है ? अकेली मेरे कमरे में ! अम्माँ क्या कहती होंगी ? चाची ही क्या कहेगी ? मंजरीको मेरी इतनी चिंता क्यो है ? वास्तवमें मेरी वह कौन है ?" इत्यादि बातोंने नवलके मस्तिष्कमे हलचल-सी मचा दी। जो कुछ अभी वह देखकर आ रहा था, जो कुछ अब देख रहा था, हृदयको उद्वेलित करनेके लिए यह सब कुछ क्या कम था ? वह धीरे-धीरे बाहर चला आया। बरामदेमे आकर, बड़े साहससे माँको आवाज़ दी, चाचीको पुकारा—"मुझे दूध दे जाओ।" आज उसकी हिम्मत मंजरीसे दूध माँगनेकी न हुई। माँने कहा—"आज मेरे पैरोंमे बड़ा दर्द है।" चाचीने उत्तर दिया—"आयी भैया ! देख तो, मंजरी इसी आसरेमें कहीं बैठी होगी, मुन्नूको अकेला कैसे छोड़ आऊँ ?" नवलकी आवाज सुनकर मंजरीका ध्यान टूट गया। जल्दी-जल्दी कपड़ोंको यूँ ही सरकाकर वह बाहर निकल आयी। नवल ठगा हुआ-सा यह सब देख रहा था। पर मंजरीके हृदयमें न कोई भाव ही दीख पड़ता था और न नेत्रोमें कोई कौतूहल ही नाच रहा था। जल्दीसे चौकेमे गयी और दूधका गिलास भर लायी। बुआने उसके हाथसे गिलास लेकर कहा—"जा, लल्ला अकेला है, मै दूध दे आऊँ।"

रातको नवल बहुत देरतक जागता रहा, नींद आती ही न थी। एक-के बाद एक-एक करके उसके मस्तिष्कमें विचार आने-जाने लगे। नवलको उस दिनकी बात भी याद हो आयी, जब वह दालानमें खड़ा अपनी कमीजमें बटन टाँक रहा था। मंजरी देखती हुई उसके सामनेसे निकल गयी, परन्तु यह नहीं कहा कि तुम्हें क्या बटन टाँकना आयेगा, या कॉलिजको देर हो जाएगी, लाओ मैं ही लगा दूँ। नवलने उस दिन मन-ही-मन कहा था —"कितनी अभिमानिनी लड़की है।" पर आज उसके हृदयसे वह भाव कितनी जल्दी लुप्त होकर केवल थोड़ा-सा पश्चात्ताप छोड़ गया। यह स्वयं नवल भी ठीक-ठीक न समझ सका।'

इस अंशमें नवलके मनकी उद्विग्नता एव भाव चित्रित हैं। बीचमें एक घटना दूध-वाली आयी है, पर मनोविश्लेषणकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है। नवल अकेला है, तब यह प्रश्न है कि उसके मनके भावोंको कैसे चित्रित किया जाय। अगर नवलका कोई घनिष्ठ मित्र रहता, तो उससे इस विषयपर बातें करायी जा सकती थीं, पर वैसा कोई पात्र कहानीमे नहीं है। अतः इसके रूपान्तरमे नवलके मनको ही एक पात्रके रूपमें खड़ा कर दिया गया है। रूपान्तर इस प्रकार है:—

मन—इतनी रात हो गयी, क्या तुम आज सोओगे नहीं ?

नवल—मैं नहीं सोऊँगा, इसमें तुम्हारा क्या ?

मन—है क्यों नहीं ? तुमसे कहना मेरा कर्त्तव्य है।

नवल—वाह रे कर्त्तव्य करनेवाले ! आखिर तुम हो कौन ?

मन—मुझे नहीं पहचानते ?

नवल—पहचानता, तो पूछता क्यों ? कमरेमें तुम्हें कहीं देख नहीं रहा हूँ !

मन—आश्चर्य है, तुम मुझे नहीं देखते ! मैं तुम्हारे साथ हूँ, चौबीस घंटे तुम्हारे साथ रहता हूँ, तुम्हारे भीतर रहता हूँ, तुम्हारा मन हूँ मैं।

नवल—मेरे मन हो तुम ! अच्छा किया, मेरी समस्या सुलझाने चले आये !

मन—समस्या सुलझाने नहीं, मैं तुमसे कहने आया हूँ कि रात बहुत हो रही है, अब तुम सो जाओ !

नवल—रात बहुत हो गयी ?

मन—तुम्हें यह भी पता नही ? एक तो यों ही देरसे लौटे हो ! 'देवदास' फिल्म देखने गये थे न ?

नवल—'देवदास'की अच्छी याद दिलायी। उसीकी बात तो मैं कबसे सोच रहा हूँ।

मन—अब सोचनेको क्या है ? कैसे विचित्र आदमी हो ? भला फिल्म देखकर रोया जाता है ?

नवल—यही तो मेरे साथियोंने कहा था !

मन—हाँ-हाँ, वे तुमपर हँस रहे थे।

नवल—मैं जानता हूँ, वे मुझपर हँस रहे थे, लेकिन मेरी आँखें भर-भर आती है, तो मैं क्या करूँ ?

मन—कितने कमजोर हो तुम !

नवल—तुम्हें जो इच्छा हो, कह लो, पर देवदासकी दुर्दशा देखकर तो मैं अपनेको रोक नहीं पाता। अभी भी उसकी स्मृति से अंतर मचल उठता है। और, उससे भी करुण कथा तो पार्वतीकी थी ! बेचारी तडपती रही, लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। नारीका जीवन कितना विवश होता है !

मन—आज तुम बहुत अशांत हो नवल ! सबेरेसे ही तुम्हे अशांत देख रहा हूँ। आज सबेरेसे तुमने कुछ खाया भी नही !

नवल—खाता कैसे ? यह छुआछूत !

मन—यह छुआछूतकी बात नहीं नवल ! तुम मंजरीकी ओर खिंचते जा रहे हो !

नवल—यह क्या कह रहे हो तुम ?

मन—मैं सत्य कह रहा हूँ !

(पत्थरपर कैंची गिरनेकी आवाज़)

नवल—कौन ?

मंजरी—**(संकोचसे)** जी, मैं हूँ ! ये कपड़े फट गये थे, इन्हें ठीक कर रही थी।

नवल—इतनी रातको ?

मंजरी—माफ़ कीजिए, आपकी नींद टूट गयी।

नवल—मैं अभी सोया नहीं था।

मंजरी—अच्छा, अब सोइए, मैं जा रही हूँ।

(किवाड़ खुलने-बंद होनेकी आवाज़)

मन—देखा तुमने ?

नवल—हाँ मेरे मन, देखा ! वह मेरे कपड़े ठीक कर रही थी। इतनी रातको। अकेली मेरे कमरेमें। अम्माँ क्या कहती होंगी? चाची ही क्या कहेंगी ? मंजरीको मेरी इतनी चिन्ता क्यों है ? कौन है वह ? वास्तवमें मेरी वह कौन है ? कौन है मंजरी मेरी ?

मन—अशांत न ो नवल !

नवल—अशांत न होऊँ ? क्या करूँ मैं ?

मन—याद है उस दिनकी बात ? तुम दालानमें खड़े अपनी कमीज़में बटन टाँक रहे थे, मंजरी सामनेसे निकल गयी, लेकिन उसने यह न कहा कि तुम्हें कालिजकी देर हो जाएगी, लाओ, मैं ही लगा दूँ !

नवल—और, उस समय मैंने सोचा था, कितनी अभिमानिनी लड़की है ! लेकिन आज क्या देख रहा हूँ मैं ?

मन—देखते जाओ, अधिक न सोचो। क्या तुम्हें पता है कि तुम्हारी अनुपस्थितिमें मंजरी किस तरह तुम्हारा कमरा साफ़ कर जाया करती है ?

नवल—हाँ, पता है। इसीलिए तो सोचता हूँ, कौन है मंजरी मेरी ? मुझसे उसका क्या संबंध है ?

मन—कुछ नहीं ! वह विधवा है। तुम संयमसे रहो। अधिक न सोचो। रात बहुत बीत गयी है। अब सो जाओ। विश्राम करो।

(वाद्य संगीतसे दृश्य-परिवर्तन)

इस प्रकार रूपान्तरकार मौलिक कहानीके रूपान्तरमें आनेवाली विभिन्न समस्याओंको विभिन्न प्रकारसे सुलझा सकता है। इसके लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं। रूपान्तरकारको केवल देखना यही है कि रूपान्तर अधिक-से-अधिक नाटकीय और प्रभावोत्पादक बन सके।

'गोटेकी टोपी'से उद्धृत अंशका, जिसमें एक ही पात्र हमारे सामने उपस्थित रहता है, रेडियो-रूपान्तर करते समय स्वगत-कथनका व्यवहार किया जा सकता था, पर यहाँ स्वगत-कथन कुछ बड़ा होता और उसमें अधिक नाटकीयता भी नहीं आती, लेकिन ऐसे ही दूसरे प्रसंगोंमें आवश्यकता पड़नेपर स्वगत-कथनका उपयोग बड़ी सरलतासे किया जा सकता है। रंगमंच-नाटकोंमें स्वगत-कथन अस्वाभाविक-जैसा लगता है, पर रेडियोपर यह अस्वाभाविक नहीं लगता। छोटे-छोटे स्वगत-कथनोंसे कोई हानि नहीं होती, बल्कि उनसे पात्रोंकी चारित्रिक विशेषताओं, उनकी मानसिक स्थितियोंपर बड़े अच्छे ढंगसे प्रकाश पड़ता है।

यदि कोई पात्र अकेला है, तो उसके जीवनकी घटनाओं एवं विशेषताओंका परिचय देनेके लिए किसी नये पात्रकी सृष्टि भी की जा सकती है,जैसे 'इंद्रजाल'के रूपान्तरके प्रारंभिक अंशमें भूरेके साथ एक आदमी रख दिया गया है। वह 'आदमी' हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है भूरे, पर 'आदमी'के साथ उसकी जो बातें होती हैं, उन्हींसे हम अपने प्रधान पात्रका परिचय प्राप्त करते हैं।

पात्रोंका परिचय देने अथवा अपेक्षित वातावरण-निर्माणके लिए नैरेटर से भी काम लिया जा सकता है, पर नैरेटरका उपयोग वहीं होना चाहिए,

जहाँ वह अनिवार्य हो। यह पहले कहा जा चुका है कि नैरेटर बहुत अधिक न बोले और किसी दृश्यके प्रारंभ या अंतमें ही आये। अगर वह दृश्योंके बीच-बीचमें टपक पड़ता है अथवा लंबे-लंबे उद्धरण बोलता है, तो इससे नाटककी गतिमें बाधा पड़ती है। पर नैरेटरकी पंक्तियाँ कभी-कभी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर देती हैं। उदाहरणके लिए 'इंद्रजाल'की दो पंक्तियाँ 'गाँवके बाहर, एक छोटे-से बंजरमें कंजरोंका दल पड़ा था। वहीं, कंजरों की झोपड़ियोंके पास ही, पलासके छोटे-से जंगलमें' शीघ्र ही कहानीके लिए वातावरण निर्मित कर देती हैं। यह कार्य केवल कथनोपकथनसे सरलतापूर्वक नहीं हो पाता।

बहुत-सी कहानियोंमें, घटनाएँ बड़ी शीघ्रतासे बदलती हैं और दृश्योंमें परिवर्तन होते जाते हैं। इनका रूपान्तर करते समय छोटे-छोटे बहुत-से दृश्य निर्मित करनेमें सुविधा मालूम होती है। यह सत्य है कि रेडियो-नाटकोंमें छोटे-छोटे दृश्य बनानेकी सुविधा है, पर क्षण-क्षण परिवर्तन होने-वाले बहुत अधिक दृश्योंका व्यवहार उचित नहीं। प्रत्येक दृश्यका इतना बड़ा होना आवश्यक है कि वह एक निश्चित वातावरण तैयार कर सके और पात्रोंकी चारित्रिक विशेषताओंको समझनेमें सहायक हो। तात्पर्य यह कि प्रत्येक दृश्यसे परिस्थितियों और चरित्रोंका विकास स्पष्टतः परिलक्षित होना चाहिए। वॉल गिलगुडके शब्दोंमें, "The freedom given by the microphone from the static conventions of the theatre does not free the writer from the necessity of establishing both situations and characters firmly before his audience and allowing both of them time to develop."

इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि छोटे दृश्य कभी लिखे ही न जायँ। अपेक्षित प्रभावकी सृष्टिके लिए कभी-कभी छोटे-छोटे दृश्य बिलकुल अनिवार्य हो उठते हैं। उदाहरणके लिए, 'गोटेकी टोपी'का ही एक अंश देखिए—

'इतने थोड़े ही समयमें, इस घरके लिए वह ऐसी हो गयी मानो सदासे ही यहांसे उसका कोई घनिष्ठ नाता है ! यहाँ तक कि दो-चार बार मना करनेके उपरांत बड़ी बुआ अब मंजरीसे ही तेलकी मालिश कराना अधिक पसंद करती हैं। बदन तो आजतक उनका वैसा किसीने दबाया ही नहीं, जैसा मंजरीको दबाना आता है।......इतना ही नही, धोबीकी धुलाई तथा ग्वालेके दूधका हिसाब भी उसे ही जोड़ना पड़ता है। शामको बिस्तरे तक बिछवाना उसीके जिम्मे आ पड़ा है। यद्यपि मजरीको वैसा तो अधिकार किसीने दे नहीं रक्खा है, फिर भी महरीसे लेकर घरकी मेहतरानी तकका दुखड़ा उसे सुनना पड़ ही जाता है। नवलके पिताको न तो और किसी का बनाया अब खाना ही पसद आता है, और न भिखारीकी पीसी हुई ठण्डाईमें ही अब मजा आता है।'

रूपान्तरमें इस प्रसंगको इस प्रकार रक्खा गया है--

हरप्यारी—(**तनिक दूरसे**) मंजरी !

मंजरी—आयी बड़ी बुआ !

हरप्यारी—नवलके बाबूजी शर्बतके लिए बैठे हुए हैं।

मंजरी—अभी बनाये देती हूँ।

हरप्यारी—जा, देर न कर। वे दूसरेके हाथकी ठण्डाई पीते नहीं, नहीं तो मैं कभी बनवा लेती !

मंजरी—मैं जा रही हूँ, देर न होगी !

(संक्षिप्त संगीत)

हरप्यारी—मंजरी !

मंजरी—(**निकट आती हुई**) क्या है बड़ी बुआ ?

हरप्यारी—धोबी कपड़े ले आया है। जा, कपड़े मिला ले। गंदे कपड़े भी आज ही दे देना। देखना, कोई छूटने न पाये। मेरी भींगी साड़ी वहाँ रखी हुई है।

मंजरी—अच्छा।

(संक्षिप्त संगीत)

हरप्यारी—मेरे पैर कबसे दर्द कर रहे हैं। तेरा पता ही नहीं है !

मंजरी—तीन-चार बर्त्तन और मलनेको रह गये हैं !

हरप्यारी—उनके लिए क्या रातभर जगी रहूँगी ?

मंजरी—पहले मैं पैर ही दबा देती हूँ। अभी तेल लेकर आयी !

(संगीत)

शीघ्रतासे परिवर्त्तित होनेवाले इन छोटे-छोटे दृश्योंके द्वारा मंजरीकी कार्य-व्यस्तता दिखलानेका प्रयत्न किया गया है। साथ ही इनसे मंजरीकी सरलता एवं आज्ञाकारिता तथा हरप्यारीके कठोर व्यवहारकी भी झलक मिल जाती है। आवश्यकता पड़नेपर इस तरहके छोटे-छोटे दृश्योंसे काम लिया जा सकता है।

रूपान्तरमें कथनोपकथनपर भी पर्याप्त ध्यान आवश्यक है। कहानी-कार अपने पात्रों, परिस्थितियोंके बारेमें स्वयं भी कहता है, पात्रोंके वार्त्तालापोंके माध्यमसे भी कहता है। उसका कार्य सरल है। लेकिन रूपान्तर-कारके पास केवल एक ही साधन है—वार्त्तालाप। वार्त्तालापोंके द्वारा ही उसे सब कुछ कहना पड़ता है। पात्रोंका चरित्रांकन भी इसके ही द्वारा करना होता है। अतः रूपान्तरकारके लिए आवश्यक है कि वह मूल कहानीमें चित्रित पात्रोंके चरित्रसे भली-भाँति अवगत हो ले, तब उनके अनुरूप ही कथनोपकथन लिखे। वार्त्तालापोंके द्वारा पात्रोंका चारित्रिक विकास स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए।

दूसरी बात यह कि मूल कहानीमें दिये गये कथनोपकथन अपने मूल रूपमें ही रूपान्तरमें नहीं रखे जा सकते। कहानी पढ़नेके लिए लिखी जाती है, उसके वार्त्तालाप भी पढ़नेके ही लिए होते हैं, अभिनयके लिए नहीं। सब वार्त्तालापोंमें, जैसा कि हम देख चुके हैं, अभिनेयताका गुण नहीं होता। उनमें आवश्यक परिवर्त्तनकर ऐसा बना लेना कि अभिनेता उन्हें बिना कठिनाईके बोल सकें, रूपान्तरकारका ही कर्त्तव्य है।

उपन्यासोंके रूपान्तरके विषयमें भी यहींपर दो शब्द कह देना उचित होगा। कहानियोंके रूपान्तरके लिए जो बातें सत्य हैं, वे ही उपन्यासोंके रूपान्तर पर लागू होंगी। दोनोंमें केवल एक अंतर है कि उपन्यास बहुत बड़े होते हैं, उनमें घटनाएँ अधिक होती हैं, पात्र अधिक होते हैं। अतः ३०-६० मिनटके लिए उनका रूपान्तर करना बहुत कठिन होता है। बड़े रंगमंच-नाटकोंके रूपान्तरके संबंधमें फेलिक्स फेल्टनने कहा है—'Where the play cannot be reduced to the time allowed without real damage it should obviously not be broadcast.' वही दूसरे स्थानपर कहते हैं--'It is, as we have seen, impossible to reduce a two-hour stage-play of this kind of length, though such butchery is sometimes attempted.' उनके अनुसार दो घटोंमें अभिनीत होनेवाले नाटकोंका रूपान्तर ३०-४५ मिनटके लिए असभव है, उन्हे प्रसारित नहीं करना चाहिए। ऐसा करना मूल लेखक और उसकी कृतिके साथ अत्याचार है। पर इससे भी बड़े अत्याचार विभिन्न रेडियो स्टेशनोंसे समय-समयपर किये जाते हैं, जब चार-पाँच सौ पृष्ठवाले उपन्यासोंके रूपान्तर ४५ मिनट अथवा ६० मिनटमें प्रसारित होते हैं। रूपान्तरमें किसी उपन्यासके साथ तभी न्याय हो सकता है,जब वह धारावाहिक रूपमें कई खंडोमें प्रसारित किया जाय।

फिर भी यदि कम अवधिके लिए उपन्यासोंका रूपान्तर करना ही हो, तो सब अप्रासंगिक कथानकोंको छाँटकर केवल प्रधान कथाको ही रूपान्तरका आधार बनाना चाहिए,यद्यपि यह भी मूल रचनाके साथ अन्याय ही होगा।

———

रेडियो-फैंटेसी (अति कल्पना)

रेडियो-फैंटेसी भी रेडियो-नाटकका एक प्रकार है। 'फैंटेसी'का अर्थ है--'कल्पना', और रेडियो-फैंटेसीमें काल्पनिक चित्रणकी प्रधानता रहती है। काल्पनिकता तो सभी नाटकोंमें होती है, पर रेडियो-फैंटेसीके प्रसंगमें 'काल्पनिक चित्रण' एक विशेष अर्थमें प्रयुक्त किया जा रहा है। यथार्थ जगत्में जिन घटनाओंका होना संभव नहीं है, उन्हें रेडियो-फैंटेसीमें घटित होते चित्रित किया जाता है, और उनके माध्यमसे किसी विचार या मार्मिक अनुभूतिकी अभिव्यक्ति की जाती है। उदाहरणोंके द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है।

आज हम देखते हैं कि विज्ञानकी सहायतासे मनुष्य प्रकृतिपर विजय प्राप्त कर रहा है, पर साथ ही वह विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रोंका आविष्कार भी कर रहा है। हमें लगता है कि मनुष्यकी प्रकृति-विजय निरर्थक है। इससे तो अच्छा था वह प्राचीन युग, जब युद्धोंमें भी नैतिकताकी रक्षा होती थी। आज जब युद्ध होता है, तब नगर-ग्राम, नागरिक-सैनिक, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सबपर बम बरसाये जाते हैं। आजकी नैतिकता प्राचीन युगकी नैतिकतासे कितनी भिन्न हो गयी है। इसकी अभिव्यक्तिके लिए हम सोच सकते हैं कि अगर प्राचीन युगका कोई मनुष्य आजके संसारको देखता, तो इसके संबंधमें क्या-क्या कहता! इसके लिए मैंने 'अभिशप्त'में यह कल्पना की है कि प्रकृति-विजयके आकांक्षी आजके दो व्यक्ति हिमालयपर चढ़ रहे हैं, और उन्हें अश्वत्थामासे भेंट हो जाती है। ऐसी कल्पनाके लिए आधार भी हैं। महाभारतमें कहा गया है कि अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका व्यवहार किया था, पर उसे लौटा लेनेकी क्षमता उसमें नहीं थी। इसलिए उसे शाप मिला था कि वह तीन हज़ार वर्षों तक मानव-समाजसे दूर निर्जन प्रदेशोंमें भटकता फिरेगा। अतः यह कल्पना की जा सकती है

है कि तीन हज़ार वर्ष बीत गये, अश्वत्थामा शाप-मुक्त हो गया और मनुष्यों-से उसकी भेंट हो सकती है। 'अभिशप्त' रेडियो-फेंटेसी इसी कल्पनापर आधारित है। यह सही है कि यह घटना यथार्थ जगत्में संभव नहीं है, पर उसके माध्यमसे जो बातें कही गयी हैं, वे सत्य हैं।

एक दूसरी रेडियो-फेंटेसीका उदाहरण लीजिए—'वे अभी भी क्वाँरी हैं।' कवीन्द्र रवीन्द्रने अपने एक निबंधमें काव्यकी अनेक उपेक्षिताओंकी ओर संकेत किया है। उनमें शकुंतलाकी सखियाँ प्रियंवदा और अनसूया भी हैं। कवि कालिदासने उनकी भावनाओंके अंकनकी ओर ध्यान नहीं दिया। हमारे मनमें एक जिज्ञासा होती है कि वे क्या सोचती होंगी, उनके हृदयमें कैसी भावनाएँ उठती होंगी। 'वे अभी भी क्वाँरी हैं'का पात्र कलाकार माधव प्रियंवदा और अनसूयाके विषयमें सोचता-सोचता अपनी सुध-बुध खो बैठता है, कालकी लम्बी दूरी पारकर महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचता है और उदास एवं भग्न-हृदया सखियोंसे बातें करता है।

इस तरह रेडियो-फेंटेसीमें अतीतके पात्रोंसे भेंट की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी कल्पनाओंके आधारपर भी रेडियो-फेंटेसी लिखी जा सकती है। उदाहरणके लिए हम कल्पना कर सकते हैं कि कोई व्यक्ति जीवनकी उलझनों से ऊब गया है और इनसे बचनेके प्रयत्नमें पक्षीका रूप धारण कर लेता है। किसी मृत व्यक्तिको जीवित व्यक्तिकी तरह बोलते हुए चित्रित किया जा सकता है, समाधिके नीचे दबी हुई किसी सैनिककी आत्मा हमसे बातें कर सकती है। इसी प्रकार अन्य कल्पनाओंके आधारपर रेडियो-फेंटेसीकी रचना की जा सकती है।

रेडियोपर फेंटेसी बिलकुल स्वाभाविक लगती है। रंगमंचपर किसी स्वप्निल या कल्पनामय वातावरणकी सृष्टि कठिन होगी, पर इसमें संगीतके द्वारा ऐसे वातावरणका निर्माण सरलतासे किया जा सकता है। चूँकि इसमें किसी भी दृश्यको देखनेकी आवश्यकता नहीं होती, केवल श्रव्य साधनोंके द्वारा हमारे मानसिक जगत्में उचित वातावरणकी सृष्टि कर दी जाती है। साथ ही रेडियोपर साधारण एवं अलौकिक पात्र बड़े स्वाभाविक

ढंगसे उपस्थित किये जा सकते हैं। यंत्रोंके द्वारा पात्रोंका स्वर भी बदला जा सकता है, जिससे पात्रोंकी असाधारणताका ज्ञान सरलतासे हो सकता है। एक उदाहरणसे बात साफ़ हो जाएगी। 'अभिशप्त'में अश्वत्थामा एक असाधारण व्यक्ति है, उसकी आकृति, अवस्था, स्वर आदि आजके साधारण मनुष्यसे भिन्न हैं। रंगमंचपर ऐसे व्यक्तिको उपस्थित करना कुछ मुश्किल है, पर रेडियोपर यह बड़ी आसानीसे किया जा सकता है।

और सब बातोंमें रेडियो-फंटेसी रेडियो-नाटककी ही तरह होती है। रेडियो-नाटककी टेकनीकके विषयमें जो बातें पहले कही गयी हैं, वे सभी रेडियो-फंटेसीपर भी लागू होंगी। दोनोंमें अंतर केवल काल्पनिकता और अलौकिक अथवा मानवेतर पात्रोंको उपस्थित करनेमें है। यह काम संगीत और ध्वनि-प्रभावोंके द्वारा किया जाता है।

रेडियो-फंटेसीकी संभावनाएं बहुत अधिक हैं, पर अभी हमारे यहाँ उनका बहुत कम उपयोग किया गया है। हिंदीमें इस प्रकारकी रचनाएँ बहुत कम लिखी गयी हैं। इस क्षेत्रमें काम करके अनेक प्रकारकी नयी उद्भावनाएँ की जा सकती हैं।

मोनोलॉग (स्वगत-नाट्य)

'मोनोलॉग' एक अंग्रेजी शब्द है, जिसका अर्थ है—वह नाटक या नाटक-का अंश, जिसमें केवल एक ही व्यक्ति बोलता है। हिंदीमें 'मोनोलॉग' शब्दका भी व्यवहार हो रहा है। इसे 'स्वगत-नाट्य' भी कहते हैं, 'एकपात्री-नाटक' भी। रेडियो-मोनोलॉग भी रेडियो-नाटकका एक प्रकार है। इसमें कोई कथनोपकथन नहीं होता। प्रारंभसे अंततक केवल एक ही व्यक्ति अपनी कहानी कहता है, तथा अपनी भावनाओंको अभिव्यक्त करता है। मोनोलॉगमें कथनोपकथनका नितांत अभाव देखकर यह कहा जा सकता है कि क्या यह भी कोई नाटक है? 'नाटक'की परिभाषा देते हुए एक अंग्रेज़ लेखकने तो स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि 'नाटक' केवल उन्हीं स्थितियों अथवा रचनाओंके लिए व्यवहृत किया जा सकता है, जिनमें द्वंद्व निहित हो। इसके लिए कम-से-कम दो पात्रोंका सहयोग अपेक्षित है। इसीलिए वर्णन और स्वगत-कथन नाटककी सीमाके परे हैं।[१] पर मोनो-लॉगमें भी अन्तर्द्वंद्वका अंकन किया जाता है। फलतः इसे हम 'नाटक'के अंतर्गत गिन सकते हैं। जब इसे 'नाटक' कहा जाता है, तब तात्पर्य केवल यही होता है कि मोनोलॉगमें नाटकका अपेक्षित द्वंद्व है, वह पढ़नेके लिए नहीं, अभिनयके लिए लिखा जाता है, और कोई कुशल अभिनेता उसे नाटकीय ढंगसे पढ़कर हमें प्रभावित कर सकता है।

---

१. Drama—A term applicable to any situation in which there is conflict and, for theatrical purposes, resolution of that character. This implies the cooperation of at least two actors, and rules out narrative and monologue.

—The Oxford Companion of the Theatre
(Edited by Phyllis Hartnoll)

मोनोलॉगमें सामान्यतः किसी ऐसे पात्रको उपस्थित किया जाता है, जिसका जीवन कुछ विरोधी भावनाओंके ताने-बानेसे बुना हुआ होता है। दूसरे शब्दोंमें कहें, तो उलझनपूर्ण व्यक्तित्ववाले पात्रोंके जीवनकी किसी मार्मिक कथाको मोनोलॉगमें अंकित किया जाता है। उदाहरणके लिए श्री विष्णु प्रभाकरके मोनोलॉग 'सड़क'की नायिकाको देख सकते हैं। जिसे वह अपना बनाना चाहती है, वह अपना नहीं बन सका, उसके पतिका मित्र बन जाता है। नायिकाका विवाह हो चुका है, वह चाहती है कि उस युवकको वह भूल जाए, जो उसका अपना नहीं हो सका; लेकिन ऐसा हो नहीं पाता, उस युवककी स्मृतियाँ उसके मनमें बार-बार उमड़कर चली आती हैं। तब उसे लगता है, जैसे वह अपने पतिके प्रति विश्वासघात कर रही है। स्वयं उसके शब्दोंमें—

'जिसे अपना बनाना चाहती थी, उसे न बना सकी और जिसने मुझे अपना बनाया, उसके प्रति भी विश्वासघात करती हूँ, विश्वासघात। हाँ, विश्वासघात.....। नहीं, नहीं....। नहीं कैसे ? उसकी याद करना, खिड़कीपर आकर रोज सड़कको देखना यह अपने पतिके साथ विश्वासघात नहीं, तो और क्या है ? नहीं, नहीं, मैं उनसे प्रेम करती हूँ। मैं उनसे विश्वासघात नहीं कर सकती।'

उसके मनकी उलझन स्पष्ट है। उसके हृदयकी दो विरोधी भावनाएँ आपसमें टकरा रही हैं। नाटकोंमें विभिन्न पात्र परस्पर वार्त्तालाप करते हैं, मोनोलॉगमें एक ही पात्रकी विभिन्न भावनाएँ आपसमें कथनोपकथन करती हैं। 'मोनोलॉगको नाटक कहा जाना इस दृष्टिसे बिलकुल सार्थक है।

यों तो रेडियो-नाटकके सभी प्रकारोंमें इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वे श्रोताओंकी जिज्ञासा एवं कौतूहलको अंततक जगाये रखे, पर यह शक्ति मोनोलॉगमें विशेष रूपसे अपेक्षित है। नाटकोंमें अनेक पात्र बोलते हैं, इसलिए उनमें एकरसता आनेका उतना भय नहीं रहता, जितना मोनोलॉगमें। मोनोलॉगको एकरसतासे बचानेके लिए कई बातोंपर ध्यान देना पड़ता है।

पहली बात तो यह है कि कहानी इस तरह कही जाय कि श्रोताओंकी उत्सुकता सदा बनी रहे। कथाका विकास क्रमिक रूपसे हो, साथ ही उसकी जो मुख्य बात हो, उसे अततक रहस्यकी तरह छिपाया जाय। कथामें मुख्य रहस्यका उद्‌घाटन अंतमें हो, तभी श्रोता उसे जाननेके लिए उत्सुक रहेंगे।

एकरसतासे बचनेका दूसरा उपाय यह है कि पात्रको जो कुछ बोलना हो, वह इस प्रकार लिखा जाय कि उसके बोलनेकी गति बदलती रहे। अगर एक ही लहजेमें, एक ही गतिसे कोई आधे घंटेतक बोलता रहे, तो वह श्रोताओंके मनको उबानेवाला सिद्ध होगा। इसलिए मोनोलॉगके विभिन्न अंश भावनाओंके अनुरूप स्थान-स्थानपर धीमी और तेज़ गतिसे पढ़ने लायक होने चाहिएँ। साथ ही उनका ऐसा रहना आवश्यक है कि अभिनेता स्थान-स्थानपर हास, उच्छ्‌वास, क्रोध आदिके भावोंको सरलता से व्यजित कर सके।

इस सबंधमें एक बात और ध्यान देनेकी है कि मोनोलॉगको उल्लिखित घटनाओंके अनुरूप यथेष्ट एवं उचित ध्वनि-प्रभाव भी दिये जायँ। यदि ट्रेनसे संबंधित किसी घटनाका उल्लेख किया जा रहा हो, तो साथमें ट्रेनका ध्वनि-प्रभाव भी होना चाहिए। इससे घटनाएँ सजीव हो उठेंगी और मोनो-लाग काफी प्रभावोत्पादक सिद्ध होगा।

ध्वनि-प्रभावोंके अतिरिक्त मोनोलॉगको प्रभावोत्पादक बनानेमें संगीतका भी बहुत अधिक हाथ है। भावनाओंको व्यंजित करनेवाले पृष्ठ-भूमि-सगीतसे मोनोलॉगमें प्रभावोत्पादकता लायी जा सकती है। स्थान-स्थानपर 'शांति'का भी उपयोग किया जा सकता है। ये सभी साधन रेडियो-नाटकके सभी प्रकारोंके लिए आवश्यक हैं, पर मोनोलॉगमें कथनोप-कथनकी कमीकी पूर्तिके उद्देश्यसे इनपर विशेष ध्यान दिया जाता है।

हिंदीमें रेडियो-मोनोलॉग बहुत कम, नहींके बराबर लिखे गये हैं। यह क्षेत्र बिलकुल खाली है। रेडियो-नाटक लिखनेके आकांक्षी कलाकार अपनी रचनाओं-द्वारा इसे समृद्ध कर सकते हैं।

संगीत-रूपक

ऑल इंडिया रेडियोके विभिन्न स्टेशनोंसे 'संगीत-रूपक' नामसे भी कुछ रचनाएँ प्रसारित की जाती हैं। इन संगीत-रूपकोंमे गीतोंकी प्रधानता होती है, जिन्हें एक-दो नैरेटर अपनी उक्तियोंसे संबद्ध कर देते हैं। एक उदाहरण-द्वारा संगीत-रूपकका स्वरूप-विधान समझा जा सकता है। 'शरद-यामिनी'-का एक अंश देखिए—

समवेत—(गीत) आओ, शरद-हासिनी आओ!
गगन-वासिनी, उतर धरापर
मंगल-कण बिखराओ!
जीवन-नभमें मेघ घिरे हैं
धरती है अकुलाती,
दसों दिशाएँ बनीं श्यामला,
रजनी घिर-घिर आती,
ज्योतिर्मयि शुभ्र शरद-शर्वरी,
ज्योति-किरण बरसाओ!
धरती यह हो रही पंकिला,
क्षुब्ध विकल सब प्राणी,
बुला रही है तुम्हें क्षितिजसे
जन-जनकी मृदु वाणी,
जीवनके कर्दममें अभिनव
शुभ्र कमल सरसाओ!

पुरुष-स्वर—गूँज उठी जन-जनकी वाणी,
गूँज उठे धरती औ अंबर,
शरद-यामिनी लगी उतरने
शुभ्र मेघके उज्ज्वल रथपर!

स्त्री-स्वर—काले-काले बादल पलमें बिखर गये,
उज्ज्वल-उज्ज्वल नभ-पथ क्षणमें निखर गये,
शरद-यामिनीका रथ नभसे उतर चला,
महाशून्यमें लगी तैरने ज्योति-कला !

पुरुष—(गीत)

शरदकी कुमारी चली आ रही है !
वसन शुभ्र झिलमिल पवन है उड़ाता,
विहँसता वदन चाँद-सा मुस्कुराता,
नयन खंजनों-से, हँसी काँस-सी है,
प्रभा देखकर है कुमुद-वन लजाता,
मचलती, थिरकती विभा-रश्मियोंपर
गगनकी दुलारी चली आ रही है !
लिये हाथमें धानकी मंजरी है,
जवा-फूल, शेफालिकासे भरी है,
खचित है वसनमें सुमन शुभ्र अगणित,
सुमन-शोभिता यह सुमन-अप्सरी है,
धराको नवल दान देने सुमनके,
सुमनकी सँवारी चली आ रही है !

स्त्री-स्वर— रथ इतना नीचे उतर गया,
शारदी आ गयी धरतीपर,
आनंद-मुग्ध हो रहा विश्व,
हो गये मुग्ध गिरि, तरु, निर्झर !

पुरुष-स्वर—शरद-यामिनी शरद-लक्ष्मी बन
जगमें अवतरित हो गयी !

स्त्री-स्वर—बरस पड़े जन-जनके करसे
अभिनन्दनके फूल चरणपर,

अभिनन्दनकी मधुमय ध्वनिसे,
गूंज उठे दिशि-दिशि औ अंबर !

समवेत—(गीत)

ज्योति-चरण शरद-शिखे,
जयति, जयति, जय हो !
धरतीके भाग्य जगे,
उतरी तू अंबरसे,
आशाएँ जाग उठीं,
सपने सब हरषे,
वरदे, तू वर दे यह,
जग ज्योतिर्मय हो !

इस प्रकार संगीत-रूपकोंमें गीतोंकी प्रधानता रहती है। नैरेटरके कथन-द्वारा ये गीत परस्पर जुड़े रहते हैं। कुछ रूपकोंमें नैरेटर गद्य या पद्यमें बोलते हैं। आजकल प्रचलित संगीत-रूपकका स्वरूप-विधान यही है।

अब मैं इस बातपर विचार करना चाहता हूँ कि इस स्वरूप-विधान और इसके नामकी सार्थकता क्या है। 'संगीत-रूपक' नाम 'रूपक'से भी अधिक भ्रामक है। जैसा हम देख चुके हैं, रूपकोंमें यथातथ्य घटनाओं, कार्यों एवं विषयोंका नाटकीकरण किया जाता है। संगीत-रूपकोंमें इस बातका नितांत अभाव रहता है। इनमें किसी भी विषयका यथातथ्य वर्णन नहीं रहता। जिस वास्तविकताकी माँग रूपकमें की जाती है, वह संगीत-रूपकमें नहीं मिलती। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संगीत-रूपकमें वास्तविकता नहीं रहती, वह असत्य होता है। संगीत-रूपकमें भी वास्तविकता रहती है, पर यह वास्तविकता तथ्योंकी नहीं, भावनाओं तथा अनुभूतियोंकी वास्तविकता होती है, और यह वास्तविकता तो नाटक, कहानी, उपन्यास, काव्य आदि सब स्वरूप-विधानोंकी अनिवार्यता है। अतः 'संगीत-रूपक'में आये 'रूपक' शब्दकी कोई सार्थकता नहीं ज्ञात होती। संभवतः 'संगीत-रूपक'को 'रूपक' इसलिए कहा जाता

है कि उसमें नैरेटर होते हैं, लेकिन जैसा कि हम पहले विचार कर चुके हैं, केवल नैरेटर या नैरेटरोंके रहनेसे ही कोई रचना 'रूपक' नहीं हो जाती।

हाँ, कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं, जिनमें 'संगीत-रूपक' अपने नामकी सार्थकता सिद्ध कर सकता है। यदि किसी संगीतज्ञ अथवा कविके जीवन एवं कृतियोंपर कोई रूपक लिखना हो, तो उसके गीतोंमें जीवनकी यथातथ्य वास्तविकता चित्रित हो सकती है।

प्रश्न यह अवश्य उठता है कि जब 'संगीत-रूपक' नाम सार्थक नहीं है, तो उसे क्या कहा जाय ? इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए हमें प्रचलित संगीत-रूपकोंकी विषय-वस्तु एवं प्रकारोंपर विचार करना होगा। आज-कल जो संगीत-रूपक लिखे जाते हैं, वे निम्नलिखित कोटियोंमें आ सकते हैं:—

(१) जो कल्पित कहानियोंपर आधारित होते हैं,
(२) जो कवियों और संगीतज्ञोंके जीवनपर आधारित होते हैं,
(३) जिनमें प्राकृतिक सौंदर्य चित्रित होता है, और
(४) जिनमें पर्याप्त नाटकीयता भी रहती है। एक विशेषता तो इन सबमें रहती ही है कि इनमें संगीतकी प्रधानता रहती है।

तो, पहली श्रेणीकी रचनाओंको हम सरलतासे 'संगीत-कहानी' कह सकते हैं, और दूसरी श्रेणीकी रचनाओंको 'संगीत-रूपक'। तीसरी श्रेणी-की रचनाएँ 'संगीत-चित्र' कही जा सकेंगी, और चौथी श्रेणीकी रचनाएँ 'संगीत-नाटक'। इस प्रकार यदि रचनाओंके स्वरूप-विधानका नामकरण किया जाय, तो इसमें वैज्ञानिकता आएगी। इन नामोंके अर्थ भी स्वतः स्पष्ट हैं। 'संगीत-कहानी'से लोग सरलतासे समझ सकेंगे कि यह ऐसी कहानीके लिए है, जिसमें संगीतकी प्रधानता है, उसी प्रकार अन्य नाम भी सहज बोधगम्य हैं।

इन सब रचनाओंके लिए 'रूपक'के प्रसंगमें कही गयी बात दुहरायी जा सकती है कि इनका सुसंगठित होना अनिवार्य है। ऐसा होनेसे ही ये श्रोताओं-पर एक निश्चित प्रभाव छोड़ सकेंगी। आजकल बहुत-से ऐसे 'संगीत-

रूपक' देखनेको मिलते हैं, जिनके गीत विभिन्न परिस्थितियों एवं वातावरणमें लिखे गये होते हैं, जिन्हें नैरेटरोंकी उक्तियोंसे परस्पर जोड़ दिया जाता है। ऐसी रचनाओंके गीत बिखरे-बिखरे-से लगते हैं, और उनसे श्रोतापर एक निश्चित प्रभाव नहीं पड़ पाता। इसलिए सफल संगीत-रचनाओंके लिए अनिवार्य है कि वे सुसंबद्ध और सुसंगठित हों।

ऐसी संगीत-रचनाओंका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। इन नये स्वरूप-विधानोंमें यत्र-तत्र गुँथे हुए छोटे-छोटे गीत लोगोंका मनोरंजन भी करेंगे और संगीतको लोकप्रिय भी बनानेमें समर्थ हो सकेंगे।

झलकियाँ

'झलकियाँ' भी रेडियोकी अपनी चीज़ है। स्वरूप-विधानकी दृष्टिसे इन्हें पाँच-छः छोटी-छोटी रेडियो-नाटिकाओंका समूह कह सकते हैं। ऑल इंडिया रेडियोके कुछ स्टेशनोंसे 'झलकियाँ', 'इन्द्रधनुप, 'लहर', 'रंग-तरंग' आदि नामसे जो आधे घंटेका कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है, उसके अंतर्गत पांच-पाँच, छः-छ. मिनटकी छोटी-छोटी नाटिकाएँ रहती हैं, बीच-बीचमें दो-चार पंक्तियोंके नैरेशनसे उन्हें परस्पर सबद्ध कर दिया जाता है। इन छोटी-छोटी नाटिकाओंमें एक-दो साधारण घटनाएँ रहती हैं, जिनके माध्यमसे जीवनकी कुछ झलकियाँ उपस्थित कर दी जाती हैं। उदाहरणके लिए, यदि किसी मध्यमवर्गीय परिवारकी झलकियाँ उपस्थित करनी है, तो उस परिवारमे घटनेवाली कुछ घटनाओंके आधार-पर पाँच-छः लघु-कहानियाँ बनाकर उनका नाटकीकरण कर देंगे। ये नाटिकाएँ परस्पर स्वतन्त्र रहती है, पर संक्षिप्त नैरेशनके द्वारा इन्हें परस्पर एक सूत्रमे बाँध देते हैं। ध्यान देनेकी बात है कि 'झलकियाँ' साधारणतः मनोरंजनकी दृष्टिसे लिखी और प्रसारित की जाती है। फलतः मनोरंजकता उनकी सबसे बडी विशेषता होती है; उनमे जीवनके गंभीर नहीं, हल्के-हल्के पक्षोंका अंकन होता है।

रेडियो-नाटककी जिन विशेषताओंका उल्लेख पहले हो चुका है, वे 'झलकियाँ'के लिए भी अनिवार्य हैं। इनकी विशेषता केवल इनकी संक्षिप्त रूपरेखा और मनोरंजकतामें है।

९

रेडियो-रंगमंच

जिन लोगोंने केवल रंगमंच-नाटकोंकी रंगशाला ही देखी है, वे यदि एकाएक रेडियो-रंगमंच देखेंगे, तो उन्हें बड़ी निराशा होगी। रंगशालासे लोगोंके मनमें सामान्यतः उस स्थानके ही दृश्य आते हैं, जहां रंग-बिरंगे पर्दे होते हैं, रंग-बिरंगी बत्तियोंका प्रबंध होता है, जिसके पीछे अभिनेताओं-का प्रसाधन-गृह या नेपथ्य (Green Room) होता है, और जिसके आगे दर्शकोंके बैठनेकी व्यवस्था होती है। पर रेडियो-नाटकोंकी रंगशाला इससे बिलकुल भिन्न होती है। न वहां रंग-बिरंगे पर्दे होते हैं, न वहां कोई दर्शक ही होता है, न अभिनेताओंके लिए रंगीन वस्त्राभूषण ही। वहां बिलकुल सादगी है, एक बड़े-से सीधे-सादे कमरेमें, जिसे स्टूडियो कहते हैं, अभिनेता अपने दैनिक जीवनके साधारण कपड़े पहनकर ही सम्राट् या भिखमंगे बनते हैं। और, रेडियो-नाटकोंके दर्शक, जिन्हें श्रोता ही कहना उचित होगा, तो अपने-अपने घरोंमें रेडियो-सेटके निकट बैठे नाटक सुनते रहते हैं। यह सचमुच आश्चर्यकी बात है कि नाटकका अभिनय एक स्थान-पर हो, और उससे आनंद-लाभ करनेवाले विभिन्न दूरियोंपर हों, पर ध्यान देनेपर यह सरलतासे कहा जा सकता है कि रंगमंच-नाटकोंके दर्शक अभि-नेताओंसे अपनेको जितना दूर पाते हैं, रेडियो-नाटकोंके श्रोता अभिनेताओं-से अपनेको उतना ही निकट। किसी अभिनेताकी हल्की-सी फुसफुसाहट भी श्रोताके कानोंमें पहुँच जाती है, वह भी इतनी जल्दी कि प्रेक्षागृहके दर्शक भी रंगमंचके अभिनेताओंकी आवाज़ उतनी जल्दी नहीं सुन पाते। रेडियो-नाटक बड़े सीधे-सादे वातावरणमें, बड़े सीधे-सादे ढंगसे अभिनीत होते हैं, फिर भी उनसे अपेक्षित वातावरण एवं प्रभावकी सृष्टि कैसे हो जाती है, इसे जाननेके लिए रेडियो-नाटकोंकी प्रसरण-क्रियाका सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। हाँ, प्रसरण (broadcasting) की

टेकनीक-संबंधी केवल उन्हीं बातोंपर यहाँ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाएगा, जो रेडियो-नाटककारके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

सबसे पहले हम स्टूडियोको देखें। रेडियो-नाटक स्टूडियोसे ही प्रसारित किये जाते हैं। कभी एक ही स्टूडियोसे काम चल जाता है, कभी कई स्टूडियोका उपयोग करना पड़ता है। स्टूडियोसे नाटक किस प्रकार प्रसारित किये जाते हैं, इसे जाननेके लिए स्टूडियोके आकार-प्रकार, उसमें स्थित यंत्र आदिका सामान्य ज्ञान अपेक्षित होगा। सभी स्टूडियोकी न एक निश्चित रूप-रेखा होती है, न सबमें समान सुविधाएँ ही प्राप्त होती हैं। जो स्टेशन जितने बड़े और सुविधा-सम्पन्न होते हैं, उनमें नाटक-प्रसरणके उतने ही साधन रहते हैं। हमारा काम यहाँ एक सामान्य स्टूडियोके परिचयसे चल जाएगा। एक नक्शाके द्वारा हम इस स्टूडियोका परिचय सरलतासे प्राप्त कर सकते हैं।
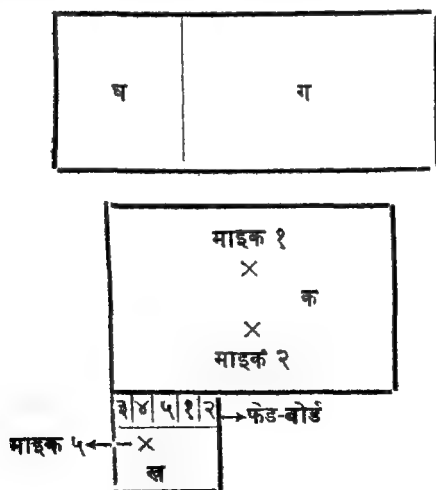
नाटक प्रसारित करनेके लिए साधारणतः एक बड़ा स्टूडियो काममें लाया जाता है। नक्शामें हम उसे क मान सकते हैं। उसकी बगलमें प्रस्तुत-

कर्त्ता (Producer) का छोटा-सा कमरा है—ख। कहीं-कहीं उद्घोषक (announcer) भी वहींसे बोलता है, कहीं-कहीं उसके लिए स्वतंत्र कमरा भी होता है। क और ख के बीचमें आने-जानेका रास्ता नहीं होता, वहाँ एक बड़ा-सा शीशा लगा रहता है। प्रस्तुतकर्त्ता और अभिनेता एक-दूसरेको देख सकते हैं, पर साधारण ढंगसे एक-दूसरेकी बातें नहीं सुन सकते, इसके लिए जिन यंत्रोंका सहारा लेना पड़ता है, उन्हें फेडर (fader) कहते हैं। फेडरोंको हम माइक्रोफोनोंके स्विच कह सकते हैं। कार्यक्रम प्रसारित करनेके लिए इन्हींके द्वारा माइकको ध्वनिग्राहक बनाया जाता है, अन्यथा वे निष्क्रिय अवस्थामें पड़े रहते हैं। ये फेडर प्रस्तुतकर्त्ताकी टेबुलपर सामने फेड-बोर्डपर रहते हैं। इन फेडरोंका संबंध विभिन्न माइक्रोफोनों और स्टूडियोसे रहता है। जैसे, फेडर नं० १ का संबंध माइक्रोफोन नं० १ से है, फेडर नं० २ का माइक्रोफोन नं० २ से, फेडर नं० ३ का स्टूडियो ग से, फेडर नं० ४ का स्टूडियो घ से और फेडर नं० ५ का संबंध माइक्रोफोन नं० ५ से है। प्रस्तुतकर्त्ता एक ही स्थानपर बैठा हुआ विभिन्न स्टूडियो और माइक्रोफोनोंसे संबंध स्थापित कर सकता है। रिहर्सलके समय यदि उसे अभिनेताओंसे कुछ कहना हुआ, तो फेडर नं० ५ ऊपर उठाकर कह देगा और फेडर नं० १ या २ उठाकर उनका उत्तर सुन लेगा। प्रसरणके समय ध्वनि-प्रभाव भी दूसरे स्टूडियो यानी स्टूडियो घ से दिये जाते हैं, पर प्रस्तुतकर्त्ता उन्हें फेडर नं० ४ के द्वारा स्टूडियो क से प्रसारित नाटकसे संबद्ध कर देगा। इसी प्रकार यदि नाटकमें वाद्य संगीतकी आवश्यकता हुई, तो स्टूडियो ग में प्रस्तुत वाद्य संगीतको फेडर नं० ३ के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। इन फेडरोंकी एक विशेषता यह भी है कि इन्हींके द्वारा ध्वनियोंका संतुलन किया जाता है। फेडरके एक सिरेपर ध्वनि बहुत क्षीण सुनायी पड़ती है, दूसरे सिरेपर बहुत जोरसे। आवश्यकतानुसार फेडरको कम या अधिक खोला जा सकता है, बिजली पंखेके स्विचकी तरह। उदाहरणके लिए, ट्रेनका ध्वनि-प्रभाव देनेके लिए स्टूडियो घ में इस ध्वनि-प्रभावका एक रिकार्ड बजाया जा रहा है। नाटकमें यदि यह दिखलाना हुआ कि ट्रेन

दूरसे क्रमशः निकट आ रही है, तो प्रस्तुतकर्त्ता ध्वनि-प्रभावके फेडरको धीरे-धीरे खोलता चला जाएगा, फलतः ट्रेनकी आवाज क्रमशः तेज होती जाएगी। ये बातें प्रस्तुतकर्त्तासे ही संबंध रखती हैं, नाटक-लेखक अपनी रचनामें आवाजकी कमी-बेशीका उल्लेख भर कर देता है।

प्रसरणके सभी कार्य माइक्रोफोन-द्वारा ही होते हैं। इसी यंत्रके द्वारा सभी ध्वनियाँ स्टूडियोसे प्रसारित की जाती हैं। अभिनेता इन्हीं माइक्रोफोनोंमें बोलते है, जैसे ये ही उनके श्रोताओंके कान हों। आवाज जैसे ही माइक्रोफोनको छूती है, वह विद्युत्-तरंगों (electrical waves) में परिवर्त्तित हो जाती है। ये विद्युत्-तरंगें तारके सहारे ट्रांसमीटर तक भेजी जाती हैं। ट्रांसमीटर स्टूडियोसे कुछ ही मीलकी दूरीपर रहते हैं। स्टूडियोसे ट्रांसमीटर तक पहुँचनेमें आवाज कमजोर न हो जाय, न उसमें कोई विकृति ही आ जाय, इसपर पूरा ध्यान रखा जाता है। ट्रांसमीटर तक पहुँचने पर ये विद्युत्-तरंगें बेतार-तरंगों या रेडियो-तरंगों (electro-magnetic waves) में परिवर्त्तित हो जाती है। ट्रांसमीटर इन रेडियो-तरंगोंको ईथरके द्वारा बड़ी तीव्र गतिसे भेजता है। हमारा रेडियो-रिसिविंग सेट इन्हें ग्रहण करता है, और फिर कई प्रक्रियाओंके बाद हमारे रेडियो-सेटका लाउडस्पीकर इन रेडियो-तरंगोंको ध्वनि-तरंगों (sound waves) में पुनः परिवर्त्तित कर देता है, तभी हम स्टूडियोसे प्रसारित ध्वनियोंको सुन पाते हैं।

अभी ऊपर कहा गया है कि रंगमंच-नाटकके दर्शक जितनी देरमें अभिनेताओंकी आवाज सुनते हैं, उससे पहले ही कोसों दूर बैठा हुआ रेडियो-नाटकका श्रोता अपने अभिनेताओंकी आवाज सुन लेता है। ऐसा इसलिए होता है कि रेडियो-तरंगोंकी गति बहुत ही तेज होती है। सामान्य ध्वनि लगभग ११०० फीट प्रति सेकेंडकी गतिसे चलती है, पर रेडियो-तरंगोंकी गतिका वेग है—१८६००० मील प्रति सेकेंड अथवा ३०००००००० मीटर प्रति सेकेंड। ध्वनि-तरंग और रेडियो-तरंगकी गतिका अंतर एक उदाहरण-द्वारा बड़ी सरलतासे समझा जा सकता है। एक व्यक्ति यदि किसी स्थानसे

बोलता है, तो उसकी आवाज पृथ्वीका चक्कर काटकर फिर उस मनुष्यके पास आनेमें कम-से-कम ४० घंटे लेगी, जबकि रेडियो-तरंग एक सेकेंडमें पृथ्वीके साढ़े सात चक्कर काट लेती है। यही कारण है कि एक स्टूडियोकी प्रसारित ध्वनियाँ दूर-दूर देशोंमें तत्क्षण ही सुनायी पड़ जाती हैं। जैसे ही अभिनेताकी आवाज स्टूडियोके माइक्रोफोनको छूती है, ठीक उसी क्षण हम उसे अपने रेडियो-सेटपर सुनते हैं। यह सोचकर रेडियो-अभिनेता अनुभव कर सकता है कि वह अपने श्रोताओंके कितना निकट है।

माइक्रोफोन कई प्रकारके होते हैं। एक गोलाकार (Omni-directional) होता है, जो सभी दिशाओंकी ध्वनियोंको समान रूपसे ग्रहण करता है। एक माइक्रोफोन एक-मुखी (Clock-face) होता है, जो केवल एक ही दिशाकी ध्वनियोंको ग्रहण कर सकता है; और एक माइक्रोफोन द्विमुखी (Bi-directional) होता है, जो दो विभिन्न दिशाओंकी ध्वनियोंको प्रत्यक्ष रूपसे ग्रहण करता है। नाटक-प्रसरणके लिए सामान्यत: इस द्विमुखी माइकका ही व्यवहार किया जाता है। यों होता तो यह चतुर्मुखी है, पर इसके केवल दो ही पक्ष सक्रिय एवं प्रभाव-ग्राहक होते हैं, अन्य दो पक्ष निष्क्रिय होते हैं। सक्रिय पक्ष चौड़े होते हैं, और निष्क्रिय पक्ष पतले। ऊपरसे देखनेपर इसका नक्शा इस प्रकार होगा।
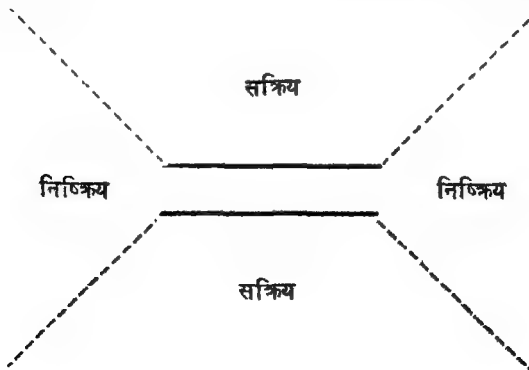
इस माइक्रोफोनकी अपनी विशेषताएँ होती हैं । यदि कोई व्यक्ति निष्क्रिय पक्षकी तरफ़ बोलता है, तो उसकी आवाज़ बहुत क्षीण सुनायी पड़ती है, क्योंकि सक्रिय पक्ष उस आवाज़को प्रत्यक्ष रूपसे ग्रहण नहीं करता । फलत: पात्रोंके प्रवेश और प्रस्थान सूचित करनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है । यदि कोई व्यक्ति निष्क्रिय पक्षकी ओरसे बोलता हुआ सक्रिय पक्षकी ओर चला आये, तो ज्ञात होगा, जैसे वह कुछ गज़की दूरीसे क्रमशः निकट आ गया है । इसी प्रकार प्रस्थान सूचित करनेके लिए अभिनेता सक्रिय पक्षकी ओरसे बोलते हुए निष्क्रिय पक्षकी ओर चले जाते हैं । निष्क्रिय पक्षकी ओर ज़ोरसे बोलकर यह भी सूचित किया जाता है कि कोई पात्र बंद दरवाज़ेकी दूसरी तरफ़से बोल रहा है । दरवाज़ा खुलनेका ध्वनि-प्रभाव मिलनेके बाद वह पात्र सक्रिय पक्षकी ओर चला जाता है । इससे ज्ञात होगा कि वह कमरेमे आ गया । द्विमुखी माइक्रोफोनकी एक उपयोगिता यह भी है कि अभिनेता नाटककी प्रति (Sctipt) निष्क्रिय पक्षकी ओर रखकर बोल सकते हैं, जिससे कागज़की खड़खड़ाहट बाहर न सुनायी पड़ने पाये ।

दूरीकी व्यंजना रेडियो-नाटकमें बड़ी सरलतासे होती है । यह इस बातपर निर्भर है कि अभिनेता और माइकके बीचकी दूरी कितनी है । जैसे, यदि यह दिखलाना हुआ कि किसी नदी या निर्झरके दो तटोंपर खड़े हुए दो व्यक्ति आपसमें बातें कर रहे हैं, तो एक माइकके निकट रहेगा, दूसरा उससे कुछ दूर । कौन अभिनेता कब माइकके किस कोणपर, और कितनी दूरीसे बोले, इन सभी बातोंका निश्चय नाट्य-निर्देशक रिहर्सलके समय कर देता है ।

नाटक-प्रसरणके समय आवश्यकतानुसार एक या एकसे अधिक माइक्रोफोनोंको काममें लाया जाता है । सामान्य स्टूडियोमें दो माइक्रोफोन रहते है, एकपर प्रमुख पात्र या नैरेटर बोलते हैं, दूसरेपर अन्यान्य पात्र । माइक्रोफोन अपने स्थानपर स्थिर रहते हैं, अभिनेता ही आवश्यकतानुसार

अपनी दूरी और कोणमें परिवर्त्तन कर विभिन्न प्रभावोंकी सृष्टि किया करते हैं।

घड़ीकी चर्चाके बिना स्टूडियोका परिचय अपूर्ण ही रहेगा। दीवारकी बड़ी, पर निःशब्द घड़ी एक-एक सेकेंडकी गिनती करती हुई चलती रहती है, और प्रस्तुतकर्त्ता एवं अभिनेताओंको बतलाती रहती है कि उन्हें अपना अभिनय एक निश्चित अवधिमें ही समाप्त कर देना है।

'ध्वनि-प्रभाव' के प्रसंगमें हम पीछे देख आये हैं कि ये रेडियो-नाटकके बड़े प्रभावशाली साधन हैं। इनके-द्वारा कुछ ही क्षणोंमें अपेक्षित वातावरण-की सृष्टि हो जाती है; आफ़िस, सड़क, बाज़ार, नदी-तट आदिकी व्यंजना हो जाती है। रेडियो-नाटकमें दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्तियोंके मनमें यह जिज्ञासा होती है कि ध्वनि-प्रभाव किस प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं। जैसा हम अभी देख चुके हैं, ध्वनि-प्रभावोंके लिए एक स्वतंत्र स्टूडियोका व्यवहार किया जाता है। ध्वनि-प्रभाव दो प्रकारसे दिये जाते हैं—(१) स्टूडियोमें ही उत्पन्न करके, और (२) रिकार्डों-द्वारा। ध्वनि-प्रभावके स्टूडियोमें कुछ वस्तुएँ पहलेसे ही रखी रहती है, जिनकी आवश्यकता ध्वनि-प्रभाव देनेके लिए होती है। ये ध्वनि-प्रभाव जिस प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं, वह बहुत लोगोंके लिए आश्चर्यका विषय होगा। उदाहरणके लिए, जब स्टूडियोमें कागज़पर बालू गिराया जाता है, तब नाटक सुनने-वाले समझते हैं कि वर्षा हो रही है। सब प्रकारके ध्वनि-प्रभावोंको स्टू-डियोमें उत्पन्न कर सकना संभव नहीं होता, फलतः अधिकांश ध्वनियोंके रिकार्ड रखे जाते है, जो अपेक्षित स्थलोंपर बजा दिये जाते हैं। रिकार्ड बजानेके यंत्र, जिन्हें ग्रामोफोन टर्नटेबुल (gramophone turntables) कहते हैं, ध्वनि-संयोजककी बगलमें ही रहते है। हाँ, यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि जब नाटक एक स्टूडियोसे प्रसारित किया जाता है और ध्वनि-प्रभाव दूसरे स्टूडियोसे दिये जाते हैं, तब नाटकके उचित स्थलोंपर उचित ध्वनि-प्रभाव कैसे दिये जाते हैं? बात यह होती है कि ध्वनि-संयोजकके हाथमें भी नाटककी एक प्रति रहती है, जिसमें अंकित किया रहता है कि

किन-किन स्थलोंपर कौन-कौन-से ध्वनि-प्रभाव देने हैं। ध्वनि-संयोजक हेड-फोनपर नाटक सुनता रहता है। साथ ही प्रस्तुतकर्त्ताकी ओरसे उसे नाटकके अंकित स्थलोंपर प्रकाश-संकेत मिलते रहते हैं। इसीसे वह उचित स्थलोंपर निर्दिष्ट ध्वनि-प्रभाव देनेमें भूल नहीं करता। ध्वनि-संयोजकका काम बड़ी सतर्कता और कुशलताका है। थोड़ी-सी असावधानीसे भी हवाई जहाज़के स्थानपर मोटरकी आवाज़ सुनायी पड़ सकती है अथवा पात्रकी 'आह्' पहले सुनाई पड़े और पिस्तौलकी आवाज़ बादमें।

प्रोड्यूसरके कंट्रोल-बोर्डपर एक यंत्र और भी होता है, जिसके-द्वारा वह अभिनेताओंकी आवाज़में परिवर्त्तन कर सकता है। इसे फिल्टर (Filter) कहते हैं। इसके-द्वारा आवाज़को तीखा, कर्कश, गंभीर, खोखला आदि किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, 'अभिशप्त' नाटकमें यह दिखलाना था कि अश्वत्थामा आजसे कई हज़ार वर्ष पहलेका मनुष्य है—आजके मनुष्योंसे भिन्न। फलतः उसकी आवाज़ फिल्टरके द्वारा इस प्रकार बदल दी गयी कि उसके विराट् व्यक्तित्वका आभास श्रोताओंको मिल सके।

स्टूडियोमें पर्दे नही होते, उनकी आवश्यकता ही नही होती, फिर भी रेडियो-नाटकमें दृश्य-परिवर्त्तन किये जाते है, इसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। दृश्य-परिवर्त्तन वाद्य संगीत अथवा क्षणिक शांतिसे तो किये ही जाते हैं, स्वरोदय (Fade in),[१] स्वर-विलयन (Fade out)[२] और स्वर-परिवर्त्तन (Cross Fade)[३] से भी किय जाते है।

---

१. Fade In—A scene 'Fades In.' Opening line, or musical or sound effect increases gradually in volume until at normal level.

२. Fade Out—A scene 'Fades Out.' Closing line, or musical or sound effect gradually decreases in volume.

३. Cross Fade Fading out one set of sound, music or dialogue, and simultaneously fading in another.

—Glossary of Radio Terms in 'One Hundred Non-Royalty Radio Plays.'

जब कोई ध्वनि मंद-मंद सुनायी पड़ती हुई जोरसे सुनायी पड़ने लगती है, तो उसे स्वरोदय कहते हैं, और इसकी विपरीत स्थितिको स्वर-विलयन। यह फेडरके द्वारा किया जाता है। अभिनेताओंकी गतिके द्वारा भी स्वरोदय तथा स्वर-विलयन होते हैं। अभिनेता जब माइकके निष्क्रिय पक्षकी ओर-से सक्रिय पक्षकी ओर अथवा दूरसे माइकके निकट आता है, तब स्वरोदय होता है और इसके ठीक विपरीत स्वर-विलयन। इनके उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। एक प्रकारकी ध्वनियोंके समाप्त होते-होते दूसरे प्रकारकी ध्वनियोंका स्पष्ट सुनायी पड़ने लगना स्वर-परिवर्तन कहलाता है। यह भी दृश्य-परिवर्तनका एक प्रभावशाली साधन है। इसका एक उदाहरण पीछे 'अंबपाली'के रेडियो-रूपांतरके प्रसंगमें (पृ० ९५-९६) में दिया जा चुका है। दूसरा उदाहरण पृष्ठ ५८ में देखा जा सकता है। परिवर्तित होने-वाली दोनों ध्वनियाँ जितना ही एक-दूसरीसे भिन्न प्रकारकी होती हैं, उनसे उतने ही शक्तिशाली प्रभावकी सृष्टि होती है। अभी जिस उदाहरणका संकेत किया गया है, उसमें इस विशेषतापर ध्यान दिया जा सकता है।

फिल्मोंमें व्यवहृत एक साधन संयुक्त दृश्यक्रम (montage)[१]का भी रेडियो-नाटकमें व्यवहार किया जाता है।[२] संयुक्त दृश्यक्रममें छोटे-

---

१. Montage—A swift succession of individual voices, or of very brief scenes, or of musical and sound effects or of any combination of the preceding. Montage is used to widen the scope of action by showing parallel events, to show time lapse through a swift succession of events and to achieve sharp contrasts. —Glossary of Radio Terms in 'One Hundred Non-Royalty Radio Plays'.

२. This is not in the least a circumstance peculiar to the cinema, but is a phenomenon invariably met with in all cases where we have to deal with juxtaposition of two facts, two phenomena, two objects.

—'The Film Sense'

छोटे अनेक दृश्यों अथवा ध्वनियोंका इस प्रकार संयोजन किया जाता है कि संयुक्त रूपमें उनसे एक नये प्रभावकी सृष्टि हो। सर्जी आइंसटीनका तो कहना है कि इस साधनका उपयोग सभी क्षेत्रोंमें किया जाता है। रेडियो-नाटकमें संयुक्त दृश्यक्रमसे अनेक प्रकारके प्रभाव उत्पन्न किये जाते हैं। इससे यह दिखलाया जाता है कि घटना विशेषकी समानान्तर प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है। उदाहरणके लिए, एक महान् व्यक्तिके निधनकी समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें क्या-क्या प्रतिक्रिया होती है, यह संयुक्त दृश्यक्रम-द्वारा दिखलाया जा सकता है। इससे पात्रविशेषकी मानसिक उद्विग्नताका प्रभावशाली चित्र अंकित किया जा सकता है। एक उदाहरण इस प्रकारका हो सकता है:—

स्वर १—जगह खाली नहीं है !
स्वर २—शादी कर लो विमल !
माँ —अब मेरे दिन लौटेंगे !
स्वर ३—बधाई है विमल, तुम परीक्षा पास कर गये !
स्वर १—जगह खाली नहीं है !
स्वर २—शादी कर लो विमल !
माँ —अब मेरे दिन लौटेंगे !
स्वर ३—कितने भाग्यवान हो विमल ! इतना अच्छा क्लास मिला है तुम्हें !
स्वर १—जगह खाली नहीं है।
स्वर २—शादी कर लो विमल।
माँ—अब मेरे दिन लौटेंगे।
स्वर ३—बधाई है विमल ! मिहनतका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा ! मिहनतका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा !
विमल—**(तेज आवाजमें)** झूठ ! झूठ ! झूठ कह रहे हो तुम ! **(सँभलकर)** उफ् ! यह क्या कर रहा हूँ मैं ! कोई सुनेगा, तो क्या कहेगा ! **(हल्की हँसी)**

संयुक्त दृश्यक्रम प्रस्तुत करनेके लिए स्वरोदय, संगीत आदिका सहारा लिया जाता है।

टेलीविज़न-नाटक : रेडियो-नाटक

रेडियो-नाटककी टेकनीकका विवेचन करते समय हमने यह अच्छी तरह देख लिया कि सामान्य नाटकोंसे रेडियो-नाटककी कला बहुत भिन्न है। वैज्ञानिक प्रगतिके साथ-साथ नाट्य-स्वरूपोंमें परिवर्त्तन होते जाते हैं। रंगमच-नाटक, फिल्म-नाटक और रेडियो-नाटक हमारे सामने हैं, इनकी अगली कड़ीमें आ रहा है टेलीविज़न-नाटक। टेलीविज़नका आविष्कार हो चुका है, और उसके माध्यमसे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, डेनमार्क आदि अनेक देशोंमें नाटक प्रसारित किये जाने लगे हैं। हमारे यहाँ अभी टेलीविज़न नहीं आया है, पर आएगा अवश्य, इतना निश्चित है; और, लोगोंके मनमें स्वाभाविक शंका होती है कि क्या टेलीविज़न-नाटक रेडियो-नाटकको अपदस्थ कर देगा? ऐसी शंका वहाँके लोगोंके मनमें भी होती है, जहाँ टेलीविज़नका उपयोग होने लगा है। इंगलैंडके श्री फेलिक्स फेल्टन लिखते हैं :—

'One of these days, radio is going to find that its glasses have been mended by television. When that happens, will it survive, or, like the old mail-coach, will it be put affectionately but finally away? If it disappears, I believe that something, perhaps even a great deal, will be lost. But whichever the answer is to be, the coach is still on the road and it looks as if it still has a good way to travel.'

हमलोगोंके लिए टेलीविज़न अभी दूरकी चीज़ है, इस तरहकी शंका-आशंकाओंसे कोई लाभ नहीं दीखता।

कुछ लोगोंके मनमें यह भी जिज्ञासा होती है कि टेलीविज़न—नाटकका स्वरूप-विधान कैसा होगा ? इस संबंधमें भी कुछ कहना असामयिक-जैसा लगता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि टेलीविज़न-नाटककी अपनी सीमाएँ और अपनी विशेषताएँ होंगी। वह रेडियो-नाटक-की तरह मात्र श्रव्य न रहकर, दृश्य भी हो जाएगा। रेडियो-नाटककी तरह वह काल और स्थानके बंधनोंसे मुक्त नहीं रह जाएगा, उसमें संकलन-त्रय पर ध्यान देनेकी आवश्यकता पड़ जाएगी। टेलीविज़न-नाटकमें दृश्य, वस्त्राभूषण, पात्रोंके अंग-संचालन, भाव-भंगिमा आदिका भी उप-योग करना पड़ेगा। नाटककारकी दृष्टिसे टेलीविज़न-नाटककी कला रेडियो-नाटकके निकट न होकर, फिल्म-नाटकके निकट होगी। उसका प्रभाव लघु-रूप-रंगमंचके समान किन्तु अधिक चलचित्रात्मक होगा, क्योंकि टेलीविज़नका पर्दा चलचित्रसे काफ़ी छोटा और सपाट होता है। वास्तवमें टेलीविज़नकी कला कैमरा और माइक्रोफोनकी कला होगी। उसका स्वरूप-विधान कैसा होगा, यह अभी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। बी० बी० सी०में भी अभी प्रयोग ही हो रहे हैं। वहाँके अधि-कारी श्री भॉल गिलगुडने स्वयं लिखा है—'It may well be that, with the passing of time and as the result of vigorous and imaginative experiment, indigenous form of piece for television may be evolved; a form that will approximate far more nearly in lay out to a film script than to that of play for sound broad-casting. To date, that form has not evolved and I would hesitate to say that even the embryo of such a form is in existence. If I am asked to give practical advice to the writer who is interested in television, I think that I could do no more than to urge him to buy a set and watch results.'

तात्पर्य यह कि वहाँ भी टेलीविज़न-नाटककी कला अभी प्रयोगावस्थामें ही है। आशा की जा सकती है कि जबतक हमलोगोंके यहाँ टेलीविज़न आएगा, तबतक टेलीविज़न-नाटककी कला बहुत कुछ निखरेगी, और बी० बी० सी० के अनुभवोंसे हम लाभ उठा सकेंगे।

अभी तो हमें रेडियो-नाटककी संभावनाओंपर ही ध्यान देना है। हमारे यहाँ रेडियो-नाटकके प्रारंभ हुए अभी बीस वर्ष भी नहीं हुए। पहला नाटक १९३६ में आल इंडिया रेडियोके दिल्ली स्टेशनसे प्रसारित हुआ था। वह नाटक भी वास्तवमें रंगमंचके लिए लिखे गये एक बँगला-नाटकका रूपान्तर था। अभी भी केवल रेडियोको ध्यानमें रखकर हमारे यहाँ कम ही नाटक लिखे जाते हैं। लब्धप्रतिष्ठ नाटककारोंके संबंधमें भी यह बात कही जा सकती है कि केवल रेडियोके लिए कम ही लोग लिखते हैं। फलतः ऐसे रेडियो-नाटक, जिनमें रेडियो-टेकनीककी संभावनाओंका अधिकाधिक उपयोग किया जाय, कम ही मिलते हैं। आल इंडिया रेडियोके एक अधिकारी श्रीकृष्ण सुंग्लूने सत्य ही कहा है—'A completely radiogenic play is rare. We have broadcast few plays which were written especially for the medium. Most plays, however, suffer from poor craftsmanship. Their structure needs visual props. The dialogue lacks the rhythms and modulations of the natural voice. It belongs to the printed page and is not speech for an actor's tongue.'

इससे सरलतासे समझा जा सकता है कि हमारे यहाँ रेडियो-नाटककी कलापर कम ध्यान दिया गया है, और इसकी संभावनाओंका कम उपयोग हुआ है। यह क्षेत्र रिक्त है, और इसमें काम करनेवालोंके लिए भविष्य आशामय है। जबतक टेलीविज़न नहीं आता, तबतक उसकी चिंता किये बिना रेडियो-नाटककी कलापर ही ध्यान देना उचित है।

परिशिष्ट

संघर्ष

(वाद्य संगीतसे दृश्य प्रारंभ)

(छेनी और हथौड़ीसे मूर्त्ति गढ़नेकी 'खट्-खट्' आवाज)

पंकज (धीरे-धीरे)

प्रस्तरमें जीवन जागेगा !
मेरी साधना न हार कभी भी मानेगी !
मैं अपने हाथोंसे गढ़ दूँगा नई मूर्त्ति !
पत्थर जीवित जाग्रत बनकर मुस्काएगा !
इसका अंतर मचलेगा,
आँखें चमकेंगी,
मुखकी अंकित रेखाएँ
अपने मौन स्वरोंमें गाएँगी !
मेरी साधना, न ठहर तनिक,
तू चलती जा !

(मूर्त्ति गढ़नेकी आवाज)

पंकज

मैं अपने आघातोंसे
प्रतिपल जगा रहा हूँ नयी ज्योति,
संसार तनिक जिसकी छायामें मुस्काए !

(मूर्त्ति गढ़नेकी आवाज)

पंकज

यह निर्जनताका राज्य,
यहाँ कोई न और।
जगके कोलाहल, संघर्षोंसे दूर,

यहाँ है अभय शान्ति ।
है शांति भंग होती
मेरी छेनीकी 'खट्-खट्'से ही, बस ।
इस निर्जनतामें जाग रहा मैं ही केवल,
सोये पत्थरको जगा रहा ।
मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ ।

पंकजका मन

तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,
तुम रक्त-मांसके पुतले भी, मानव भी हो !

पंकज

यह कैसी ध्वनि ?
सुनता हूँ क्या ?

मन

तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,
मानव भी हो !

पंकज

तुम कौन ?
कहाँसे बोल रहे ?
मैं तुम्हे देखता यहाँ नहीं,
लेकिन आवाज़ सुन रहा हूँ ।

मन

मैं तो तुमसे
कुछ कहता रहता हूँ सदैव,
जिसको तुम सुनकर भी
न कभी हो सुन पाते मेरे पंकज !

पंकज

पंकज ?
संबोधित करते हो मुझको 'पंकज' कहकर !

मन

आश्चर्यचकित क्यों होते हो ?
मै तुमसे परिचित हूँ,
तुमको पहचान रहा,
हैं ज्ञात मुझे आख्यान तुम्हारे जीवनके,
हरएक तुम्हारी धड़कन
मेरी धड़कन है !

पंकज

सम्मुख आओ,
मै भी तुमको पहचानूं तो !

मन (हल्की हँसी)

पहचानोगे ?
आश्चर्य यही,
मुझको तुम अबतक भी
न तनिक पहचान सके ।

पंकज

मै समझ नहीं पाता,
तुम क्या यह कहते हो ?

मन

जबसे तुमने देखा प्रकाश इस धरतीका,
जबसे चंचल साँसें
गिनने लग गयीं ज़िन्दगीकी घड़ियाँ,
मैं तबसे ही तो संग तुम्हारे रहता हूँ !

पंकज

तुम संग हमेशा रहते हो ?

मन

हाँ, संग हमेशा रहता हूँ।
तुम भी हो उतना निकट नहीं अपने मनके,
जितना मैं निकट तुम्हारे
प्रतिपल रहता हूँ !

पंकज

तुम कौन ?
क्यों नही मेरे सम्मुख आते हो ?

मन

सम्मुख क्या आऊँ पंकज !
मैं तो सदा तुम्हारे मनमें हूँ,
मैं सदा तुम्हारे अतरसे बोला करता।

पंकज

क्या कहने आये हो मुझसे ?
इस समय ? यहाँ ?

मन

मैं कहने आया हूँ पंकज,
तुम कलाकार ही नहीं,
नहीं शिल्पी केवल,
तुम रक्त-मांसके पुतले भी, मानव भी हो !

पंकज

तात्पर्य तुम्हारे कहनेका ?

मन

तात्पर्य स्वयं सोचो, समझो।

पंकज

अवकाश नहीं मुझको इतना,
उलझूँ तुमसे।
अवकाश नहीं मुझको इतना,
मैं तथ्यहीन तात्पर्य तुम्हारा
समझूँ, सोचूँ यों रुककर।
तुमने अपनी बातोंमें
उलझाकर मुझको,
साधना भंग कर दी मेरी!
ये हाथ रुक गये हैं मेरे,
छेनी है नीचे गिरी हुई!
मेरे सम्मुख यह मूर्त्ति अधूरी खड़ी-खड़ी
सतृष्ण नयनसे ताक रही,
है माँग रही जीवन मुझसे!
मैं कलाकार हूँ, शिल्पी हूँ,
भर दूंगा इसमें नये प्राण, चेतना नयी!

(मूर्त्ति गढ़नेकी आवाज शुरू होती है, फिर शीघ्र ही बन्द हो जाती है।)

मन

मत पागल हो पंकज,
कुछ मेरी बात सुनो!

पंकज

तुम क्यों अशांत
मुझको यों करने आये हो?

मन

मै तुम्हें सत्य दिखलाने आया जीवनके!

पंकज

मैं देख रहा हूँ

जीवनके सत्योंको
इन्हीं मूर्त्तियोंमें !

मन

पाषाणोंमें जीवनका सत्य नहीं मिलता,
सत्योंके फूल खिला करते हैं धरतीपर !
पाषाणोंसे तुमको
न उलझने दूंगा अब।
मैं तुम्हें खींचकर
जीवनकी धरतीपर लाने आया हूँ !

पंकज

मैं कहता हूँ,
मुझको जाना है कहीं नहीं।
मैं कलाकार साधना-निरत
कर रहा अभी मैं नयी सृष्टि !

मन

तुम भ्रममे हो।
तुममें है इतनी शक्ति नहीं,
तुम देख सको
जीवनके निष्ठुर सत्योंको !
सत्योंको अपनी आँखोंसे ओझल करके
भ्रम-सृष्टि कर रहे हो प्रतिपल !
भ्रमकी दुनियामें
तुम्हें नही रहने दूंगा,
देखना तुम्हें होगा जीवनका कठिन सत्य !

पंकज

ऐसी असत्य बातें क्यों करते हो ?
बोलो,

मैं कलाकार,
जीवनके सत्योंका द्रष्टा !
मैं देख रहा हूँ उन्हें सतत,
इसलिए कि उनको जगको भी दिखला पाऊँ,
इसलिए कि
प्रमुदित हो पाये संसार
कलाकृतियोंमें उनका बिंब देख !

मन

तुम चाह रहे हो
जगतीको प्रमुदित करना ?

पंकज

सच कहते हो,
मेरी कामना यही है,
जग यह हँस पाये।
मेरी साधना सफल होगी,
जब मेरी कला-सृष्टियोंसे
जग पाएगा उल्लास-हास !

मन

इन बातोंपर
मुझको विश्वास नही होता।
कामना तुम्हारी होती यदि,
जगतीको सुखी बनानेकी,
पहले तुम सुखी बनाते
अपनी पत्नीको, माँको, अपने नन्हें शिशु को !

पंकज

क्या कहते हो ?

मन

मैं सत्य कह रहा हूँ पंकज !
तुम जीवनके सत्योंसे आँखें फेर रहे !
तुम कहते हो,
तुम निर्मित करते हो अनुपम मूर्त्तियाँ नयी,
मैं कहता हूँ,
मूर्त्तियाँ नहीं,
भ्रम-सृष्टि तुम्हारी है केवल !
तुम देख रहे,
अपनी आँखोंके सम्मुख नित,
नन्हा मोहन बीमार पड़ा है शय्यापर,
पत्नी बेचैन हो रही है !

(करुण संगीतके साथ एक स्मृति-दृश्य प्रारंभ होता है)

मोहन—माँ ! माँ !

बेला—क्या है बेटा ? प्यास लगी है क्या ?

मोहन—हाँ माँ, पानी दे।

बेला—पहले दवा पी ले बेटा, फिर पानी पीना।

मोहन—नहीं माँ, मैं यह दवा नहीं पीऊँगा, बड़ी कड़वी लगती है।

बेला—दवा पीएगा, तभी तो जल्दी अच्छा हो जायगा।

मोहन—तू रोज यही कहती है, पर मै अच्छा नही होता। बाहर कब खेलने जाऊँगा माँ ? शांति और रामू रोज खेलते हैं।

बेला—तुम भी खेलने जाओगे मेरे लाल ! पहले अच्छा तो हो जाओ।

मोहन—मैं कब अच्छा होऊँगा माँ ?

बेला—अब दो-चार दिनमें ही अच्छे हो जाओगे।

मोहन—तब तुम मुझे खानेको दोगी न ?

बेला—हाँ बेटा, मैं तुम्हारे लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें बनाऊँगी।

मोहन—मैं संदेश खाऊँगा माँ, रसगुल्ले भी।

बेला—मैं तुम्हें सब कुछ दूंगी मोहन !

मोहन—तू मुझे जल्दी अच्छा कर दे माँ ! बाबूजीसे कहकर कोई अच्छी दवा मँगा देना।

बेला—बाबूजी ! (**साँस खींचकर**) बाबूजीको फुरसत नहीं रहती बेटा ! वे हमेशा अपने काममें लगे रहते हैं।

मोहन—मेरे लिए वे काम छोड़कर ज़रूर दवा ला देंगे माँ !

बेला—मोहन बेटा, उनके पास पैसे भी तो कम है !

मोहन—इससे क्या हुआ माँ ! तू बहाना करती है। मै कहूँगा तो, मेरे लिए वे ज़रूर दवा ला देंगे।

बेला—देख, वे आ ही रहे हैं।

मोहन—कहाँ है माँ ?

बेला—आ ही गये। देखिए न, मोहन कबसे आपको खोज रहा है। आपको तो अपनी मूत्तियोंसे छुट्टी नही मिलती।

पंकज (निकट आता हुआ)—क्या करूँ, थोड़ा-सा काम बाक़ी रह गया था, सोचा, पूरा ही कर लू। मोहनकी तबीयत कैसी है ?

बेला—आपको इसकी चिंता थोड़े ही है ?

पंकज—चिंता क्यों नहीं है ? लेकिन काममें इस तरह उलझ जाता हूँ कि कुछ याद ही नहीं रहता। और, मूत्तियाँ बेकार तो नहीं बना रहा हूँ, उनसे पैसे भी तो मिलेंगे।

बेला—पैसे क्या खाक़ मिलेंगे ! मूत्तियोंके प्रेमी कितने है ?

पंकज—हैं क्यों नही ? दुनियामें अनेक कला-पारखी है।

बेला—साल दो सालमे कोई दो मूत्तियाँ खरीद ही लेगा, तो क्या इसीसे ज़िन्दगी चलेगी ? मै कबसे कहती हूँ, कोई दूसरा काम कर लो।

पंकज—नही बेला, मुझसे दूसरा काम न होगा।

मोहन—बाबूजी !

पंकज—क्या है बेटा ?

मोहन—मुझे जल्दी अच्छा कर दीजिए बाबूजी ! मैं खेलने जाऊँगा !

पंकज—तू अच्छा हो जाएगा मोहन !

मोहन—आपने यह बड़ी कड़वी दवा ला दी है, मैं इसे नहीं पीऊँगा। आप कोई अच्छी दवा ला दीजिए।

पंकज—अच्छी दवा ? ला दूंगा बेटा ! तू जल्दी अच्छा हो जाएगा !

(स्मृति-दृश्य समाप्त)

मन **(जोरकी हँसी)**

तुम कलाकार हो, शिल्पी हो !
तुम चाह रहे
उल्लास-हाससे भर देना इस जगतीको।
लेकिन अपने नन्हें शिशु,
अपनी पत्नीको
तुम तनिक न प्रमुदित कर पाते !

पंकज

सच कहते हो।
विक्षुब्ध, विकल हो उठता हूँ
मैं उन्हें देख !
मेरे अंतरके तार-तार बज उठते है,
बह चलती है आँखोंसे करुणाकी धारा !
लेकिन क्या करूँ,
विवश हूँ मैं !
ये पत्थर माँग रहे मुझसे आकार नये !
आकृतियाँ माँग रहीं मुझसे जीवन-स्पन्दन !
मैं कलाकार,
इनको निराश कैसे कर दूं ?

(मूर्ति गढ़ने की आवाज)

मन

लगता मुझको,
विक्षिप्त हो गये हो पंकज !
पाषाणोंकी वाणी तुम सुनते हो प्रतिक्षण,
लेकिन मोहनकी कातर ध्वनि
अंतरतक तनिक तुम्हारे नही पहुँच पाती ?

पंकज

मुझको अशात मत करो अधिक !
उनकी स्मृतियोंको सोने दो ओ मेरे मन !
मेरे अंतरको और न अधिक कुरेदो तुम !
मैं शिल्पी हूँ,
गढ़ रहा मूत्तियाँ जगके हित,
मेरी साधना न भग करो
इन बातों से।

मन (हँसते हुए)

साधना !
साधना इसे तुम कहते हो !
तुम पागल हो !
तुम भाग रहे हो जीवनके संघर्षोंसे !
पाषाणोंके सँग जूझ-जूझ
पाषाण हो गये हो तुम भी !

पंकज (आश्चर्य से)

क्या कहते हो ?
पाषाण हो गया हूँ मैं भी ?
तुम निष्ठुर हो,
तुम अंतरकी धड़कन न तनिक हो सुन पाते।
देखो, मेरे उरमें

आकांक्षाएँ हैं जाग रहीं कितनी,
मेरी पलकोंमें सपने उमड़ रहे कितने !
मेरी साँसें जगकी
मंगल-कामना किया करती सदैव !
तुम कैसे कहते हो,
मैं भी पाषाण हो गया हूँ
इन पाषाणोंके सँग ?
मेरे उरमें तो जाग रही
जीवन-विद्युत् इतनी सशक्त,
जो पाषाणोंको भी
नवजीवन देती है,
चेतना नयी उनके प्राणोंमें भरती है !

मन

आश्चर्य यही तो
होता है मुझको पंकज !
तुम कहते हो,
कैसे निराश कर दूँ मैं इन पाषाणोंको ?
लेकिन निराश करते अपनी प्रिय बेला को
तुमको न तनिक लज्जा आती !
है याद,
कौन-सी आशाएँ थीं
जाग उठीं उसके मनमें ?

(मधुर वाद्य-संगीतसे स्मृति-दृश्य प्रारंभ होता है)

बेला—(हल्की हँसी)

पंकज—बड़ी खुश हो बेला !

बेला—मैं खुश न होऊँ, तो दूसरा कौन होगा ?

पंकज—आखिर बात क्या है ?

बेला—मुझसे ख़ुशीकी बात पूछ रहे हो ? आज मुझसे सुखी दूसरी कौन नारी होगी !

पंकज—क्यों ?

बेला—"क्यों"का जवाब मैं नहीं देती !

पंकज—ज़रा सुनूँ भी।

बेला—तुम्हारे-जैसा कलाकार तो ख़ुद समझ जाएगा।

पंकज—कलाकारकी पत्नी कह दे, तो अच्छी बात न होगी ?

बेला—तुम तो मुझे चिढ़ाने लगते हो। तुम्हीं बतला दो तो कैसा हो ?

पंकज—नहीं बेला, मैं पहेली बूझना नही जानता। मै तो मूर्त्ति गढ़ना जानता हूँ, पत्थरकी मूर्त्ति !

बेला—एक मेरी मूर्ति नहीं बना दोगे ?

पंकज—तुम तो मेरी कलाकी प्रेरणा हो ! अपनी प्रत्येक मूर्त्तिमें मैं तुम्हारी ही आत्माका संगीत भरता हूँ ! मै कितना प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जैसी जीवन-संगिनी पाकर !

बेला—यह तो तुम उल्टी बात कहते हो।

पंकज—उल्टी बात कहता हूँ ?

बेला—और नहीं तो क्या ? ख़ुश तो मै हूँ कि तुम्हारे-जैसे कलाकार-की पत्नी हूँ !

पंकज—पगली ! (हल्की हँसी)

बेला—हँसते क्यों हो ? मै झूठ कहती हूँ ?

पंकज—झूठ क्यों कहोगी बेला ! लेकिन मै सोच रहा हूँ कि क्या तुम हमेशा सुखी रह सकोगी ?

बेला—मैं तुमसे ऐसी बातें नही सुनना चाहती। मेरा मन आशंकित हो उठता है। मैं तुम्हारे साथ हमेशा सुखी रहूँगी !

पंकज—तुम मेरी बात नहीं समझी !

बेला—मैं समझती हूँ। तुम कलाकार हो, शिल्पी हो ! मुझे तुम्हारी

प्रतिभापर, तुम्हारी शक्तिपर विश्वास है। मैं जानती हूँ, तुम मुझे दुखी नहीं होने दोगे।

पंकज—हाँ बेला, मैं तुम्हें दुखी नहीं होने दूंगा ! तुम्हारे होठोंकी मुस्कानके लिए मैं सब कुछ करूँगा।

बेला—तुम कितने अच्छे हो !

(स्मृति-दृश्य समाप्त)

मन—(जोरकी हँसी)

तुम कितने अच्छे हो पंकज ! (हँसी)

पंकज

तुम हँसने आये हो मुझपर ?

मन

मैं हँसने नहीं यहाँ आया,
(व्यंग्यसे)
यह तुमसे कहने आया हूँ,
तुमने अपनी बेलाको सुखी बनाया है !
मुस्कान अधरपर खिलती रहती है उसके,
आँखें उसकी मुस्काती हैं,
हो सुख विभोर,
उल्लास-हासके गीत सदा वह गाती है !
तुम कितने अच्छे हो पंकज ! (हँसी)

पंकज

मैं कहता हूँ,
मुझपर न हँसो अब और अधिक,
ओ मेरे मन !

मन

मैं हँसता नहीं तनिक तुमपर !
कुछ बीती बातें याद करा देता हूँ बस !
उन मधु-दिवसोंकी स्मृतियाँ,

बोलो, कहाँ गयीं।
बेलाकी पलकोंके सपने क्या कहते हैं ?
उसके मनका विश्वास
भला क्या हार गया ?
तुमने थे जो आश्वासन दिये कभी उसको,
वे पाषाणोंसे टकराकर क्या धूल हुए ?
क्या सचमुच ही
तुम देख नहीं पाते उसकी इच्छाओंको ?——
जो सिसक-सिसककर रोती है,
जो घुट-घुटकर मिट जाती है !

पंकज

बस, रहने दो ओ मेरे मन !
मैं सुन न सकूँगा और अधिक।
सोयी स्मृतियोंको जगा-जगा
मुझको अशांत क्यो करते हो ?
मैं कलाकार हूँ,
मुझे साधना करने दो !

(मूर्त्ति गढ़नेकी आवाज़)

मन

ठहरो पंकज !
भागो न अभी !
भागने नहीं दूँगा तुमको।
सोचो तो कुछ,
तुम पाषाणोंसे टकराना यह छोड़,
कहीं श्रम और दूसरा करते यदि,
धन-वैभव मिलता,
सुख मिलता,

जीवनमें हँसी-खुशी तब आकर लहराती,
बेला मुस्काती,
मोहन किलकारी भरता,
साधोंकी कलियाँ खिल जातीं !
कितना सुन्दर लगता यह जग !

पंकज

रहने दो अब
ओ मेरे मन !
तुम दुनियाको रंगीन बना
साधना-भ्रष्ट मुझको यों करने आये हो !
लेकिन मैं अपने पथसे भ्रष्ट नहीं हूँगा !
है मुझे ज्ञात,
इस दुनियाकी यह चमक-दमक,
यह रंगीनी,
सब नश्वर है, है क्षणिक, तुरत मिट जाएँगी !
मै नश्वरताके लिए
अमरताको न कभी भी खो सकता !

मन

यह बात अमरताकी
तुमने कैसी छेड़ी ?

पंकज

ओ मेरे मन,
तुम अंधे हो,
तुम समझ न पाओगे सब कुछ !

मन

पत्थरके प्रेमी,
ज़रा मुझे समझाओ भी !

पंकज

जो रंग दिखाते हो मुझको
इस दुनियाके,
वे सबके सब धुल जाएँगे !
बेला न रहेगी,
रह न सकेगा मोहन भी,
औ, कलाकार पंकजकी
नश्वर देह कभी मिट जाएगी !
मिट जाएँगे,
जगके वैभव-ऐश्वर्य सभी !
मिट जाएगी
दुनियाकी सारी चमक-दमक !
लेकिन यह अनुपम कला-सृष्टि
जगके ध्वंसोंपर भी सदैव मुस्काएगी !
युग-युग तक कलाकार पंकजकी
गौरव-गाथा गाएगी !
सब मिट जाएँगे,
वर्त्तमानके प्राणी है,
लेकिन यह मेरा कलाकार
है तोड़ रहा इस वर्त्तमानकी सीमाएँ
छेनीके निष्ठुर, निर्मम कुछ आघातोंसे !
आनेवाली सदियोंमें भी
यह कभी न मिटनेवाला है।
यह गौरव देख रहे हो तुम ?
देखो भी तो।

(वाद्य-संगीतसे नया स्मृति-दृश्य प्रारंभ होता है। बहुतसे लोगोंके जमीन खोदनेकी आवाज सुनायी पड़ती है।)

आदमी १—अरे भई, इतने जोरसे कुदाल न चलाओ।

आदमी २—क्यों?

आदमी १—कहीं ऐसा न हो कि जिन मूर्त्तियोंकी खोजमें हम मिहनत कर रहे हैं, वे हमारी कुदालकी ही चोटसे टूट जायँ।

आदमी २—हाँ, अभी-अभी तो यह छोटी-सी पत्थरकी मूर्त्ति मिली है।

आदमी १—इसीलिए तो कहता हूँ कि बड़ी मूर्त्तियाँ भी शीघ्र ही मिलेंगी! अच्छा, जल्दी-जल्दी काम करो।

(कुदाल और फावड़े चलानेकी आवाज)

आदमी २—यह देखिए, एक नयी मूर्त्ति यह निकली!

आदमी १—कितनी सुन्दर है! मैं कहता हूँ, अभी और मूर्त्तियाँ निकलेंगी। काम करो।

(कुदाल और फावड़े चलानेकी आवाज)

आदमी २—यह देखिए—एक नयी मूर्त्ति और निकली!

(कुदाल और फावड़े चलानेकी आवाज)

आदमी २—एक मूर्त्ति और!

आदमी १—इतनी मूर्त्तियाँ! कलाका अनुपम भंडार पा लिया हमने! कितनी सुन्दर हैं ये!

आदमी २—इनकी कला तो देखिए! इनकी एक-एक रेखा बोल रही है! ये कितनी सजीव लगती हैं!

आदमी १—किसकी बनायी हुई हैं?

आदमी २—नाम तो इस मूर्त्तिके नीचे खुदा हुआ है।

आदमी १—क्या नाम है?

आदमी २—मूर्त्तिकार पंकज!

आदमी १—मूर्त्तिकार पंकज! तुम हमारी श्रद्धाके पात्र हो! हम तुम्हारे चरणोंपर अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते हैं!

आदमी २—आश्चर्य है कि हम ऐसे महान् कलाकारके विषयमें कुछ नहीं जानते थे। पता नहीं, यह किस युगका कलाकार है!

आदमी १—मूर्त्तियोंपर सन्-संवत्का उल्लेख तो अवश्य होगा !

आदमी २—होना तो चाहिए ।

आदमी १—जरा गौरसे देखो ।

आदमी २—देख रहा हूँ । (**जरा ठहरकर**) यह तो किसी सन्का ही उल्लेख है ।

आदमी १—पढ़ो भी तो ।

आदमी २—उन्नीस सौ पचास ।

आदमी १—तो, इसमें संदेह नहीं कि मूर्त्तिकार पंकज बीसवीं सदीके पूर्वार्द्धमें रहा होगा ।

आदमी २—उसकी कला गजबकी है ! आज इतनी सदियोंके बाद भी उसकी मूर्त्तियोंमें इतनी शक्ति है कि ये हमारे मनको गुद-गुदा सकें !

आदमी १—सचमुच वह महान् कलाकार था !

आदमी २—ये मूर्त्तियाँ हमारे गौरवकी वस्तु हैं !

आदमी १—इन्हे हम अपने म्यूजियममें ले चलें !

आदमी २—हाँ-हाँ, हमें इनका संरक्षण करना चाहिए ।

मन (**जोर की हँसी**)

पंकज

क्यों हँसते हो
ओ मेरे मन ?

मन

पागल सपने छल रहे तुम्हें !

पंकज

पागल सपने ?

मन

मैं ऐसे सपनोंको
पागल ही कहता हूँ ।
ये निष्ठुर होकर छीन रहे हैं

तुमसे मधुमय वर्त्तमान !
अमरत्व प्राप्त करनेके हित
तुम दौड़ रहे हो अंधों-से अपने पथ पर ।

पंकज

क्या कहते हो ?
मैं दौड़ रहा हूँ अंधों-सा ?

मन

तुम देख नहीं पाते
जीवनके सपनोंको,
जो वर्त्तमानकी धरतीपर
सामने तुम्हारे बिखरे हैं ।
तुम कहते हो,
ये वर्त्तमानके सुख-वैभव
सब नश्वर हैं,
चाहिए तुम्हें अमरत्व कहीं ।
मैं कहता हूँ,
तुम भ्रममें हो ।
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ,
वह भी नश्वर, क्षण-भंगुर है !

पंकज

वह भी क्षण-भंगुर है कैसे ?

मन

तुम देख नहीं पाते उसको ?
तुम कहते हो,
बेला, मोहन मिट जाएँगे,
इस दुनियाके चमकीले रंग धुल जाएँगे,
दस वर्षोंमें सब चमक-दमक होगी मलीन !

तुम अमर रहोगे
इन्हीं मूर्त्तियोंमें छिपकर !
मैं कहता हूँ,
ये कला-सृष्टियाँ भी
खंडित हो जाएँगी !

पंकज

कैसे खंडित होंगी,
मैं समझ नहीं पाता !

मन (हँसो)

तुम समझोगे इसको कैसे ?
भ्रमका आवरण
तुम्हारी आँखोंपर छाया।
क्या देख नही सकते
कि कभी तूफ़ान-बवंडर आएँगे,
धरती डोलेगी,
आसमान थर्राएगा ?

(आँधी, तूफ़ान, भूकंप आदिकी भयंकर ध्वनियाँ दूरसे धीरे-धीरे उठकर तेज हो जाती हैं। बहुत-से लोगोंकी आवाजें सुनायी पड़ती है... 'भागो, भागो' 'जान बचाओ' आदि)

पुरुष-स्वर १—अरे राकेश, तुम यही खड़े हो ?

पुरुष-स्वर २—और क्या करूँ ?

पुरुष-स्वर १—भागते क्यों नहीं ?

पुरुष-स्वर २—भागकर कहाँ जाऊँ ? देखते नही ? समूची धरती डोल रही है, आकाश फट रहा है, काले-काले बादल उमड़े आ रहे हैं, आँधियाँ बढ़ती आ रही हैं, तूफ़ान उत्पात मचा रहे हैं ! मालूम होता है, प्रलय आकर ही रहेगा।

पुरुष-स्वर १—तुम भी गजबके आदमी हो ! यों बड़-बड़े प्रलयकी बातें सोच रहे हो !

पुरुष-स्वर २—जो सामने देख रहा हूँ, उसे सोच रहा हूँ । ये बड़े-बड़े आलीशान महल गिरकर चूर-चूर हो रहे हैं, धरती फट रही है, सभी ढह रहे हैं, ढह रहे हैं, आह !

(आवाज तेज होकर कम होती है)

मन (अट्टहास)
कलाकार पंकजकी
सब मूर्त्तियाँ ध्वस्त हो जाएँगी ! (हँसी)

पंकज
इतना न हँसो ओ मेरे मन !
मैं पागल हो जाऊँगा सचमुच इन्हें सोच !

मन (हँसी)
मैं क्यों न हँसूं ?
तुम खोज रहे अमरत्व यहाँ !
अमरत्व भला इस धरतीपर
मिल पाता है ?
धरतीपर सब कुछ नश्वर है,
क्षणभंगुर है,
आशंकासे जीवनका
प्रतिक्षण कंपित है !
तूफ़ान-बवंडर
उल्का-झंझावातोंका भय तो है ही,
संभव है,
जगके भले आदमी,
शांति चाहनेवाले नर
कुछ ऐटम बम भी बरसा दें !

(बहुत-से हवाई जहाजोंकी आवाज़ । विस्फोट, आह-चीत्कार आदिकी ध्वनियाँ)

मन (अट्टहास)
तब कलाकार पंकजकी
ये मूर्त्तियाँ कहीं बच पाएँगी ? (हँसी)
अमरत्व चाहनेवाले भावुक कलाकार ! (हँसी)

पंकज

बस !
रहने दो, रहने दो,
हँसो न और अधिक
ओ मेरे मन !
सच कहते हो,
अमरत्व नही इस धरती पर !
भ्रम है, सब मिथ्या है !
मेरी साधना, कला-कौशल,
सब निष्फल हैं !
मेरी मूर्तियाँ सभी
खंडित हो जाएँगी !
मैं रचकर इन्हें करूँगा क्या ?
प्रतिमे, तुझको मिटना ही है,
तो बनकर भला करेगी क्या ?

(पत्थर पर जोरसे हथौड़ा मारनेकी आवाज)

पंकज

आह !
मैंने यह क्या कर दिया आज ?
मेरी यह अनुपम कला-सृष्टि
हो गयी नष्ट मेरे हाथों !
मैं पागल हूँ,
मैं उलझ रहा हूँ, जाने क्यों,
अपने मनसे !
मैंने अपनी प्रतिमा
खंडित कर दी पलमें !
यह प्रतिमा, मेरी कला-सृष्टि !
जिसके रचनेमें
मुझे आत्म-सुख मिलता था,
संतोष हृदयको होता था !
मैं फिरसे कोई मूर्त्ति रचूँगा मनमोहक,
पत्थरमें ज्योति जगाऊँगा !

(वाद्य संगीतसे समाप्ति)

वे अभी भी क्वाँरी हैं !

(वाद्य संगीतसे दृश्य प्रारम्भ)

रेखा—रात बीत रही है माधव !

माधव—मेरी आँखोंमें नींद नहीं है।

रेखा—मैं कहती हूँ, अब सो जाओ।

माधव—नहीं रेखा, अभी मैं नहीं सो सकता।

रेखा—न मालूम, तुम्हें कभी-कभी क्या हो जाता है।

माधव—हो क्या जाता है, यों ही कुछ सोचने लगता हूँ।

रेखा—मैं भी तो सुनूं, क्या सोच रहे हो !

माधव—तुम्हें क्या बतलाऊँ ?

रेखा—क्यों, मेरे जानने योग्य नहीं है ?

माधव—नहीं रेखा, जानने योग्य क्यों नहीं है, लेकिन मेरा मन कुछ अशांत-सा है।

रेखा—यही तो जानना चाहती हूँ कि इस शांतिकी वेलामें तुम अशांत क्यों हो ?

माधव—अशांत ! (हलकी हँसी) मैं कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुंतलम्'की बात सोच रहा हूँ रेखा !

रेखा—तो इसमें अशांत होनेकी क्या बात है ?

माधव—अशांत होनेकी बात नहीं है ?

रेखा—(हलकी हँसी) कवि और कलाकार सचमुच पागल होते हैं, यह बात तो तुम्हें देखकर ही मान गयी हूँ माधव !

माधव—मैं पागल हूँ ? कालिदास पागल थे ! अन्यायी !

रेखा—तुम्हें क्या हो गया है माधव ?

माधव—कुछ नहीं, कुछ नहीं। आज मैं विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

ठाकुरका एक निबंध पढ़ रहा था। उसकी पंक्तियाँ अभी भी मेरे कानोंमें गूँज रही हैं। सुनती हो ?

रेखा—नहीं माधव !

माधव—वाह ! यह गूँजती हुई आवाज तुम नहीं सुनती ?

स्वर—संस्कृत-काव्योंमें दो तपस्विनियाँ और हैं, जो हृदयको तपोवन बनाकर उसमें निवास करती हैं। वे हैं प्रियंवदा और अनुसूया। पतिगृह-गामिनी शकुन्तलाको विदा करके वे रोती-रोती लौट आयीं। नाटकमें फिर उनका प्रवेश नहीं देखा गया, उन्होंने फिर हमारे हृदयोंमें ही आसन जमा लिया !

माधव—सुनती हो रेखा ?

रेखा—क्या सुना रहे हो माधव ? मैं तो कुछ भी नहीं सुनती।

माधव—कुछ भी नहीं सुनती ? सुनो भी तो !

स्वर—शकुन्तलाके पतिगृह-गमनके बाद प्रियंवदा और अनुसूयाका क्या हुआ, यह बात शकुन्तला नाटकके लिए बिलकुल ही अनावश्यक है, किन्तु क्या इसीलिए वह अकथित और अपरिमेय वेदना वहींपर शान्त हो गयी ? क्या वह हमारे हृदयमें बिना छन्द और बिना भाषाके ही सदा जाग्रत नहीं रहने लगी ?

माधव—यही तो मै भी कह रहा हूँ रेखा !

रेखा—क्या कह रहे हो तुम ? मुझे तो कुछ मालूम ही नहीं होता।

माधव—हुँह, तुम्हें क्या मालूम होगा ?

रेखा—तुम्हीं रातभर मालूम करते रहो ! मुझे तो नींद आ रही है। मैं सो रही हूँ।

माधव—अच्छा रेखा, सो जाओ, मेरा भी मन जब शान्त होगा, सो जाऊँगा। (**क्षणिक शांति के बाद**) क्यों रेखा, सो गयी ? कालिदासने प्रियंवदा और अनुसूयाके प्रति सचमुच अन्याय किया है—अन्याय !

(धीरे-धीरे उठता हुआ स्वप्न-सूचक संगीत)

कल्पना—कलाकार माधव ! कलाकार !

माधव—कौन हो तुम ?

कल्पना—मैं ? इससे तुम्हें क्या मतलब ?

माधव—तो, तुम मुझे पुकार क्यों रही हो ?

कल्पना—तुम्हें शान्ति देनेके लिए।

माधव—शान्ति ?

कल्पना—हाँ-हाँ, तुम अशांत हो न ? मै तुम्हें शान्ति देना चाहती हूँ।

माधव—शान्ति दोगी ? कैसे ?

कल्पना—कैसे क्या बतलाऊँ ? तुम शान्ति नहीं चाहते हो क्या ?

माधव—चाहता क्यों नहीं ?

कल्पना—तो, आओ। शीघ्रता करो। मेरे साथ चलो। उठो। उड़ चलो। पीछे लौट चलो।

(शून्यमें उड़नेकी आवाज)

स्वर—१९००-१८७५-१८५७

(भीड़की आवाज)

कुँवरसिंह—यह बिद्रोहका झंडा खड़ा रहे, गिरने न पाये, जीत हमारी होगी !

स्वर—१८५०-१८३५-१८००-१७६०

बिहारी—सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसहु सदा बिहारीलाल ॥

कल्पना—बढ़ते चलो कलाकार !

माधव—आ रहा हूँ देवि !

स्वर—१७२०-१७००-१६८८

तुलसी—सिया राममय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

कल्पना—माधव, और आगे बढ़ो।

माधव—बढ़ रहा हूँ ! क्या कहूँ, तुम्हें ?

कल्पना—कल्पना !

माधव—कल्पना !

स्वर—९९०-८८०-४००-३००

माधव—और कहाँ कल्पना ?

कल्पना—और नहीं कलाकार ! मैं तुम्हें शीघ्र ही रुकनेको कहूँगी।

माधव—वह कौन है वहाँ—उस पर्वत पर ?

कल्पना—वह यक्ष है, कालिदासका विरही यक्ष !

माधव—आषाढ़के मेघ आकाशमें घिर रहे हैं, यक्ष व्याकुल हो रहा है कल्पना ! चलो न वहीं।

कल्पना—नहीं माधव, मैं तुम्हें यक्षके पास नहीं, प्रियंवदा और अनुसूयाके पास ले आऊँगी।

माधव—कहाँ है वे ?

कल्पना—उन्हें ही तो देख रही हूँ। आगे बढ़ो ! वह देखो, वहाँ, उस कुंजमें !

माधव—तो, चलो न वहीं।

कल्पना—नहीं माधव, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी।

माधव—तब ?

कल्पना—तब क्या ? तुम चले जाओ। फिर लौटकर आना, तो साथ चलेंगे।

माधव—तुम क्यों नही चलती ?

कल्पना—मैं कहती हूँ, तुम जाओ, देर न करो। इच्छा होगी, चली आऊँगी।

(वाद्य संगीतसे दृश्य-परिवर्तन)

(चिड़ियोंकी चहचहाहट आदिकी आवाज)

प्रियंवदा—(निकट आती हुई) अनुसूया ! अनुसूया ! अरी पगली, मैं तुम्हें कबसे पुकार रही हूँ, तुम्हें कुछ सुनायी ही नहीं पड़ता ?

अनुसूया—सचमुच मुझे पुकार रही थी ?

प्रिय०—तुम्हें सुनायी दे, तब तो। कर क्या रही हो ?

अनु०—यही एक चित्र बना रही हूँ प्रियंवदा !

प्रिय०—तुम्हारा तो मन चित्र ही में लगता है। देखूँ, किसका चित्र है ?

अनु०—देखो न, यही तो है।

प्रिय०—यह तो किसी राजकुमारका चित्र है।

अनु०—हाँ प्रियंवदा !

प्रिय०—बड़ा सुन्दर है ! इसकी आँखोंसे कितनी मादकता बरस रही है !

अनु०—हाँ सखी !

प्रिय०—कैसे बनाया तुमने ? कहीं इस राजकुमारको देखा है क्या ?

अनु०—नहीं प्रियंवदा, जहाँ तुम हो, वहाँ मैं। देखूंगी कहाँसे ? महाराज दुष्यंतके बाद इस उपवनमें दूसरा कोई राजकुमार आया ही कहाँ ?

प्रिय०—हाँ अनुसूया, सच कहती हो। देखते-देखते आँखें थक गयीं, लेकिन इस उपवनमें कोई राजकुमार नहीं आया । मन करता है,......

अनु०—क्या मन करता है सखी ?

प्रिय०—यही कि महाराज दुष्यंत-जैसा ही कोई राजपुरुष हमारा अतिथि होता, तो हम उसका कितना सत्कार करतीं !

अनु०—लेकिन कोई अतिथि हुआ तो नहीं।

प्रिय०—यही तो सोचती हूँ अनुसूया, तुम कितनी भाग्यशालिनी हो !

अनु०—मैं ? भाग्यशालिनी हूँ ? (हल्की हँसी)

प्रिय०—भाग्यशालिनी तो हो ही ! अपनी कल्पनाके संसारमें कभी किसी महाराजको, कभी किसी राजकुमारको बुला लेती हो, और उसे अपने चित्रपटपर उतार लेती हो !

अनु०—यह तो चित्रकलाकी महिमा है प्रियंवदा !

प्रिय०—तुम्हारी चित्रकलाकी निपुणता मैं अभी भी नहीं भूली हूँ।

तुमने शकुन्तलाके विदाके समय अपनी चित्रकलाके बलपर ही उसे राजकीय वस्त्र पहनाये थे।

अनु०—हाँ सखी, उन दिनोंकी याद न दिलाओ। वे तो सपने-जैसे बीत गये, फिर लौटकर आनेवाले नहीं हैं !

प्रिय०—हाँ अनुसूया, मैं भी यही सोचती हूँ, वे दिन फिर एक बार आ पाते !

अनु०—मेरे मनमें भी उन दिनोंकी स्मृतियाँ मचल रही हैं प्रियंवदा ! उस दिन शकुन्तलाके मुखपर एक भौंरा मँड़रा रहा था, और उसी समय महाराज दुष्यंत उपवनमें चले आये।

प्रिय०—मैं तो उस भौंरेको कबसे खोज रही हूँ सखी ! एक बार मेरे मुखपर भी मँड़राता !

अनु०—लेकिन,

प्रिय०—लेकिन क्या, कुछ नहीं ! लताओंको देखा, फूलोंके निकट गयी, लेकिन वह भौंरा कहीं न मिला !

अनु०—इन कल्पनाओंसे लाभ ही क्या है प्रियंवदा ?

प्रिय०—हाँ सखी, ये कल्पनाएं स्वप्न हैं, छलना है, इनमें उलझनेसे कोई लाभ नहीं। और, मैं भी कैसी बेसुध हूँ, क्या कहने आयी थी, क्या कहने लग गयी !

अनु०—क्या कहने आयी थी प्रियंवदा ?

प्रिय०—यही कि उठो, घड़ा उठाओ, लताओं और वृक्षोंको सींचनेका समय हो गया।

अनु०—जरा यह चित्र पूरा न कर लूं ?

प्रिय०—नहीं अनुसूया, शीघ्र उठो, पिता कण्व आयेंगे, तो क्या कहेंगे ? और, यह माधवी लता हमारे स्नेह ही पर तो जीवित है। याद है न, शकुन्तला इसे हमें ही सौंप गयी थी !

अनु०—याद है सखी !

प्रिय०—लेकिन जाने दो अनुसूया ! चलो, बीती बातोंको याद करनेसे क्या ?

अनु०—हाँ सखी, चलो, देखो न, माधवी लता हमें बुला रही है।

प्रिय०—उठाओ घड़ा।

(क्षणिक शान्ति, फिर पानी गिरनेकी आवाज़)

अनु०—प्रियंवदा, उस झुरमुटसे खड़खड़ाहट कैसी हो रही है ?

प्रिय०—कोई मृग होगा। अच्छा सखी, मेरी वल्कलकी कंचुकी ज़रा ढीली कर दे न !

अनु०—मैं क्या इसीलिए हूँ ? कभी शकुंतलाकी कंचुकी ढीली की थी, आज तुम्हारी कर दूँ ? अच्छा !

प्रिय०—देखो सखी, कोई आ रहा है क्या ?

अनु०—यह तो मैं पहले ही कह रही थी।

प्रिय०—शायद कोई अतिथि है।

अनु०—संकोचसे आगे नहीं बढ़ रहा है। बुला लो।

प्रिय०—आइए, चले आइए। कौन हैं आप ? क्या सत्कार करें आपका ?

अनु०—आप बोलते क्यों नहीं ? आज्ञा दीजिए, आपकी क्या सेवा की जाय ?

माधव—कुछ नहीं देवि, कुछ नहीं ! मुझे सेवा नहीं चाहिए। मैं केवल आपके दर्शन चाहता था।

प्रिय०—दर्शन ?

माधव—हाँ देवि, तुम्हें देखने हीके लिए कालकी लम्बी दूरी पारकर चला आ रहा हूँ।

अनु०—अहो भाग्य हमारे ! हमारे प्रति अभी भी किसीके हृदयमें स्निग्ध भावनाएँ हैं ? किसीके मनमें हमें देखनेकी आकांक्षा भी उठती है ?

माधव—क्यों नहीं अनुसूया ?

अनु०—अनुसूया ? तुमने हमारा नाम कैसे जान लिया अतिथि ?

माधव—क्षमा करो देवि, मैं कबसे यहीं झुरमुटमें खड़ा तुम्हें देख रहा था, तुम्हारी बातें सुन रहा था !

प्रिय०—शायद तुम प्रतीक्षा कर रहे थे कि कोई भौंरा हमारे मुखपर उड़-उड़कर हमें सताये, तब तुम हमारी रक्षाके लिए प्रकट हो !

माधव—नहीं देवि, मैं तुम्हें यों ही देख रहा था। न जाने क्यों, तुम्हें देखकर मेरे मनमें एक कैसी करुण रागिनी बजने लगती है, मेरे तार-तार झंकृत हो जाते हैं !

अनु०—अरे, तुम अभी खड़े ही हो ? बैठो अतिथि, आसन ग्रहण करो। प्रियंवदा, जा, कुटीसे कुछ फल-फूल ले आ।

माधव—नहीं प्रियंवदा, इस सत्कारकी कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारे दर्शनसे ही तृप्त हो गया।

प्रिय०—तो आओ अतिथि, इस कदलीपत्रके आसनको सुशोभित करो।

माधव—यह स्थान तो शायद वही है, जहाँ दुष्यन्त बैठे थे ?

अनु०—हाँ अतिथि, यह तभीसे सूना है।

माधव—लेकिन अनुसूया, मैं महाराज दुष्यन्तके आसनपर बैठने योग्य नहीं हूँ !

अनु०—ऐसा न कहो अतिथि, हम तो तुम्हें उन्हींके-जैसा समझती हैं।

प्रिय०—हाँ अतिथि, हम तुम्हें अतिथि कब तक कहें ?

माधव—लोग मुझे माधव कहते हैं।

प्रिय०—माधव !

अनु०—नाम तो बड़ा सुन्दर है !

प्रिय०—तुम्हें देखकर हमें लगता है, जैसे हमारे जीवन-काननमें भूल-भटककर सचमुच माधव चला आया हो !

माधव—तुम क्या कहती हो प्रियंवदा ?

अनु०—प्रियंवदा सच कहती है माधव ! तुम्हें देखकर मुझे इतना

आनन्द होता है कि क्या कहूँ ! लगता है, जैसे कोई भूली बात याद आ गयी हो !

माधव—तुम कितनी भावुक हो अनुसूया !

अनु०—भावुक ! (हल्की हँसी) लेकिन प्रसन्नता है कि तुमने मेरे अन्तरमें मचलती हुई भावनाओंको पहचान लिया । तुम कितने सहृदय हो !

माधव—मैं कवि हूँ अनुसूया !

प्रिय०—यह क्या कहा तुमने ?

माधव—यही तो कि मैं कवि हूँ ।.....क्यों ? तुम्हारे मुखपर यह गहरी छाया कैसे घिर आयी ? तुम आशंकित क्यों हो गयी ?

प्रिय०—हमें कवियोंसे भय लगता है माधव !

अनु०—वे बड़े निष्ठुर होते हैं !

माधव—यह क्या कह रही हो तुम ?

प्रिय०—सच कह रही हूँ माधव !

अनु०—सुनी-सुनायी बात नहीं, अनुभवका सत्य है !

प्रिय०—कालिदास कवि थे !

अनु०—कवि ही नहीं, महाकवि थे !

प्रिय०—और, उन्होंने कितनी निष्ठुरता की है !

अनु०—हमें शाप दिया है !

प्रिय०—निष्ठुर शाप !

अनु०—दुर्वासाके शापसे भी कठिन !

प्रिय०—दुर्वासाने शकुन्तलाको शाप दिया था, शकुन्तला शापमुक्त हो गयी !

अनु०—लेकिन कालिदासका शाप आज भी हमारे शीशपर मँड़रा रहा है ।

माधव—कौन-से शापके विषयमें कह रही हो अनुसूया ?

अनु०—नहीं देखते माधव ? यह देखो, आश्रमके चारों ओर महा-शापकी काली रेखा खिंची हुई है ।

माधव—कैसी रेखा ? मैं तो नहीं देखता ।

प्रिय०—नहीं देखते ? तुम भी कवि हो न ?

माधव—यह क्या प्रियंवदा ?

प्रिय०—कालिदास निष्ठुर थे, उन्होंने हमारी आशा-आकांक्षाओंपर अग्निवर्षा की है !

अनु०—हमारी कोमल भावनाओंकी कलियोंको अपने निष्ठुर हाथोंसे मसल दिया है उन्होंने !

माधव—हाँ, यह तुम सच कह रही हो । मैं भी यही कहता हूँ ।

प्रिय०—हाँ, तुम सहृदय हो, सरल हो ! हमारी आशाओंके मूर्त्त-मान रूप हो !

अनु०—हाँ माधव, कालिदास निष्ठुर थे, लेकिन सब तो एक-से नहीं होते । तुम कितने सुन्दर हो ! कितने सरल ! कितने सहृदय !

माधव—तुम्हारे स्नेहकी वर्षासे मैं भींगा जा रहा हूँ । लेकिन, लेकिन इतनी वर्षा उचित नहीं है, उचित नहीं है अनुसूया !

अनु०—उचित नहीं है ! उचित क्या है ? अनुचित क्या है ? कुछ नही, कुछ नहीं !

प्रिय०—तुम कितने सरल हो माधव ! तुम निष्ठर नहीं हो सकते ! मैं जानती हूँ, तुम हमें मुक्त करने आये हो; कालिदासके शापसे मुक्त करने !

अनु०—मैं जानती हूँ, तुम हमें इस आश्रमसे मुक्त करने आये हो ! तुम हमें इस आश्रमसे, इस बंदीगृहसे बाहर ले चलोगे, हमारी आशा-आकांक्षाओंपर, हमारे स्वप्नोंपर मधुकी वर्षा करोगे !

माधव—बोलो अनुसूया, मैं क्या करूँ ? कुछ समझ नहीं पाता । प्रियंवदा, बोलो ।

प्रिय०—तुम कवि हो, सहृदय हो, तुम स्वयं समझते हो, मैं क्या कहूँ ?

अनु०—हमें इस बंदीगृहसे बाहर पहुँचा दो माधव ! यहाँ हमारी इच्छाएँ घुट-घुटकर मिटती जाती हैं !

प्रिय०—शीघ्रता करो माधव !

माधव—क्या करूँ मैं ?

अनु०—ले चलो, हमें यहाँसे बाहर ले चलो, राजनगरमें !

प्रिय०—तुम सोच क्या रहे हो ? सोचनेका समय नहीं !

माधव—तो, चलो, लेकिन कोई पुकार रहा है क्या ?

प्रिय०—शायद पिता कण्व हैं !

अनु०—क्या कह रहे हैं वे ?

बहुत-से स्वर—(गूँजती हुई तेज आवाज में) ये क्वाँरी हैं, इनका नगरमें जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगरमें जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगरमें जाना उचित नहीं है ! ये क्वाँरी हैं, इनका नगरमें जाना उचित नहीं है !

(तीव्र वाद्य संगीतसे समाप्ति)

सहायक ग्रंथोंकी सूची

1. The Right Way to Radio Playwriting by Val Gielgud.
2. The Radio-Play: Its Technique and Possibilities by Felix Felton.
3. A guide to Radio Writing by W. Grifith.
4. Radio Plays & How to Write Them by Charles Hatton.
5. Radio Theatre: edited by Val Gielgud.
6. You're on the air by Lionel Gamlin.
7. The Film Sense by Sergei M. Eisenstein.
8. How to Write for Radio by James Whipple.
9. The Stuff of Radio by Lance Sieveking.
10. Christopher Columbus by Louis Macneice.
11. The Dark Tower and Other Broadcast Plays by Louis Macneice.
12. 100 Non-Royalty Radio Plays : compiled by Kozlenko.
13. 5 Radio Plays : Introduction by Val Gielgud.
14. Aspects of Broadcasting in India: A symposium (Publications Division, Ministry of Information & Broadcasting, Delhi).
15. B. B. C. Quarterly.

सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

दार्शनिक, आध्यात्मिक, धार्मिक

भारतीय विचारधारा	श्री मधुकर एम. ए.	२)
अध्यात्म-पदावली	श्री राजकुमार जैन एम. ए.	४ll)
कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न	श्री शोभाचन्द्र 'भारिल्ल'	२)
वैदिक-साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६)
जैन-शासन	पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर	३)

उपन्यास, कहानियाँ

मुक्ति-दूत [उपन्यास]	श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम. ए.	५)
संघर्षके बाद	श्री विष्णु प्रभाकर	३)
गहरे पानी पैठ	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२ll)
आकाशके तारे : धरतीके फूल	श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२)
पहला कहानीकार	श्री रावी	२ll)
खेल-खिलौने	श्री राजेन्द्र यादव	२)
अतीतके कंपन	श्री आनन्दप्रकाश जैन	३)

उर्दू-शायरी

शेरो-शायरी	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	८)
शेरो-सुखन [पाँचों भाग]	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२०)

कविता

वर्द्धमान [महाकाव्य]	श्री अनूप शर्मा	६)
मिलन-यामिनी	श्री हरिवंशराय 'बच्चन'	४)
धूपके-धान	श्री गिरिजाकुमार माथुर	३)
मेरे बापू	श्री हुकमचन्द्र 'बुखारिया'	२ll)
पंच-प्रदीप	श्रीमती शान्ति एम. ए.	२)
आधुनिक जैन-कवि	श्रीमती रमारानी जैन	३lll)

संस्मरण-रेखाचित्र

हमारे आराध्य	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	३)
संस्मरण	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	३)
रेखा-चित्र	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	४)
जैन-जागरणके अग्रदूत	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५)

ऐतिहासिक

खण्डहरोंका वैभव	श्री मुनि कान्तिसागर	६)
खोजकी पगडण्डियाँ	श्री मुनि कान्तिसागर	४)
चौलुक्य कुमारपाल	श्री लक्ष्मीशंकर व्यास, एम. ए.	४)
कालिदासका भारत [भाग १]	श्री भगवतशरण उपाध्याय	४)
कालिदासका भारत [भाग २]	श्री भगवतशरण उपाध्याय	४)
हिन्दी जैन-साहित्य का सं० इतिहास	श्री कामताप्रसाद जैन	२॥।=)

ज्योतिष

भारतीय ज्योतिष	श्री नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६)
केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि	श्री नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	४)
करलक्खण [सामुद्रिक शास्त्र]	प्रो० प्रफुल्लकुमार मोदी	।।)

विविध

द्विवेदी-पत्रावली	श्री बैजनाथसिंह विनोद	२॥)
जिन्दगी मुसकराई	श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४)
रजतरश्मि [एकांकी नाटक]	डॉ रामकुमार वर्मा	२॥)
ध्वनि और संगीत	प्रो० ललितकिशोरसिंह	४)
हिन्दू-विवाहमें कन्यादानका स्थान	श्री सम्पूर्णानन्दजी	१)
ज्ञानगंगा [सूक्तियाँ]	श्री नारायणप्रसाद जैन	६)
रेडियो-नाटय-शिल्प	श्री सिद्धनाथकुमार एम. ए.	२॥)
शरत् के नारीपात्र [आलोचनात्मक]	प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४॥)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस